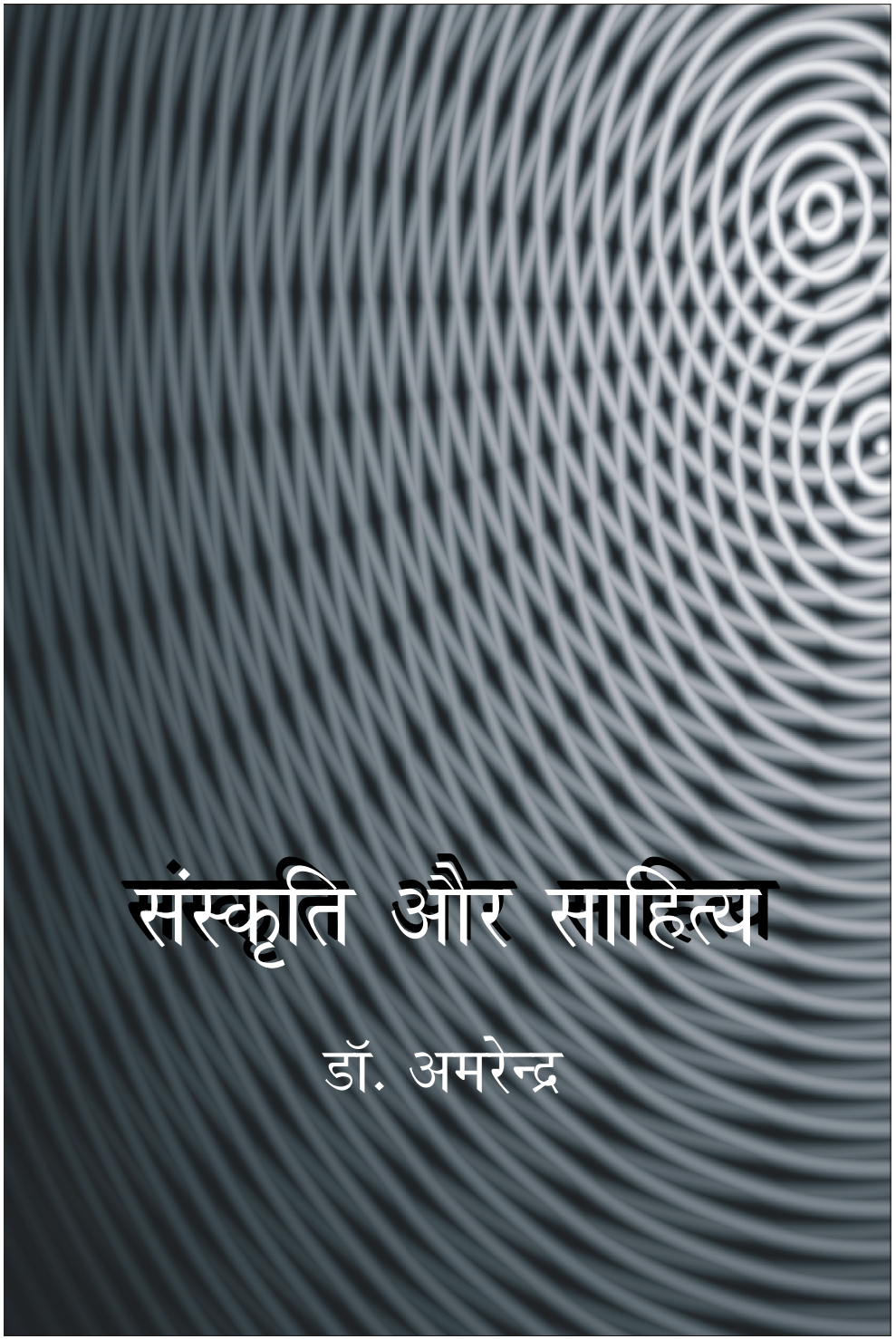
संस्कृति और साहित्य
डॉ. अमरेन्द्र

संस्कृति और साहित्य

संस्कृति और साहित्य

डॉ. अमरेन्द्र

प्रकाशक
अंगिका फाउण्डेशन
ए-६६ न्यू अशोक नगर, नई दिल्ली-६६

© Dr. Amrendra

पुस्तक : संस्कृति और साहित्य
लेखक : डॉ. अमरेन्द्र
संस्करण : ई. २००८
प्रकाशक : अंगिका फाउण्डेशन, नई दिल्ली
मुद्रक : एमेलपी., भागलपुर
मूल्य : १२५ रूपये

SANSKRITI AUR SAHITYA By Dr. Amrendra

आत्मीय

राजेन्द्र परदेसी

के लिए यह कृति

जिनकी रचनाओं और रेखाओं में

समय की धड़कनें साकार हो गई हैं ।

आलेख से अलग कुछ ये बातें

बात जुलाई २००५ की है । सावन का प्रवेश तीसरे दिन ही होना था और दैनिक जागरण का 'जागरण सिटी' परिशिष्ट भी उसी दिन निकलता । दो दिन पहले जागरण कार्यालय से प्रणय प्रियंवद का संवाद आया—अंक के लिए एक आलेख तुरत भेजूं । तुरत लिखा और भेज भी दिया । एक दिन पूर्व पूरा पेज तैयार कर प्रियंवद जी घर की ओर रवाना हो गये । परिशिष्ट पावस पर केन्द्रित था, पर गर्मी और धूप आकाश तक चढ़ी हुई थी कि लगता था वैशाख बेमत हो रहा हो । मैंने सोचा, कल जागरण का पावस अंक निकलेगा और आज यह वैशाख वाली धूप । लोग क्या समझेंगे ।

लेकिन देखिए प्रकृति की लीला, मध्य रात्रि के बाद जो बादल घिरना शुरू हुआ और सुबह हाते ही जो बारिश शुरू हुई तो सप्ताह भर बारिश थमी ही नहीं । मैंने दूरभाष पर प्रियंवद जी से इस परिवर्तन पर बातें की तो, उनकी पहली ही पंक्ति थी, 'मैं सोच रहा था, इस पावस-केन्द्रित अंक को लेकर लोग क्या सोचेंगे ?' दोनों एक ही भय से डरे थे और फिर दोनों एक ही आनन्द और खुशी से भरे हुए । 'संस्कृति और साहित्य' में जो आलेख संकलित है, सबके साथ कुछ-न-कुछ ऐसे ही गुदगुदाने वाले प्रसंग जुड़े हैं । इसीसे इन्हें जुगाना जरूरी हो गया था ।

लेकिन इन आलेखों को नाम क्या दिया जाए । कुछ आलेखों को पढ़ कर पत्रकार मित्र प्रसून लतान्त ने मुझसे पूछा है कि तुम्हारे ये आलेख क्या हैं, व्यंग्य हैं, निबन्ध हैं, फीचर हैं, या क्या हैं ? इस तरह से तो मैंने कभी सोचा ही नहीं कि ये आलेख क्या हैं ? ठीक ही तो, न ये शुद्ध फीचर हैं, न शुद्ध निबन्ध, व्यक्ति चित्र (प्रोफाइल) भी व्यक्ति चित्र नहीं ।

शायद ये आलेख ऐसे आलेख हैं जिनमें साहित्य की सारी विधाएँ मिल-जुलकर एक हो गयी हैं । मैं साहित्य में वर्ग या जाति वाला विभाजन अधिक कर भी नहीं पाता । जब भी कुछ लिखने बैठा, दिमाग पर बिना अधिक भार दिए । ऐसी स्थिति में साहित्य का तो यही रूप होगा, जो इन आलेखों का है । अब चाहे पत्रकार मित्र प्रसून लतान्त जितना झुंझलाए ।

पाठक बंधु, अगर आपको भी खीझ हो जाए, तो क्षमा करेंगे ।

हाँ, एक बात और । कहीं प्रूफ अशुद्धियाँ दिखे तो झुंझलाएँगे नहीं, अब आँखें प्रूफ के लायक नहीं रहीं । अगर छोटे बेटे अभिनन्दन और छोटी बेटी वसुन्धारा ने इस कार्य में मदद न की होती, तो यह कृति सामने भी नहीं आती । बस

दीपावली —अमरेन्द्र

२८ अक्टूबर २००८

आलेख-क्रम

१. देश की आजादी की पहली लड़ाई लड़ी थी दार्शनिकों ने/९
२. आधुनिक अंगिका काव्य में प्रकृति का मंजरी महोत्सव/१२
३. फिर बोल, बोल कि स, रऽ, रऽ...../१६
४. कैमरे की चमक में चमकते वे चेहरे/१९
५. सोने की चम्पा, काजल का लोर/२२
६. साजि चललै जलधार/२५
७. ढाई आखर का यह जो प्रेम है/३१
८. पनमा दुकनमा पर मचलै फगुनमा/३४
९. अंग पर भी जमे थे यायावर राहुल के चरण/३६
१०. कहाँ से कहाँ तक व्याप्त था 'अंग' का राढ़ प्रदेश/३९
११. पहाड़ की जिन्दगी, पहाड़-सी जिन्दगी/४३
१२. आषाढ़ के साथ इतना अन्याय क्यों ?/४७
१३. मैं मुंदीचक हूँ, जो कहूँगा, सही-सही कहूँगा/५०
१४. और वह पगली चीथड़े को तिरंगा बना नाँचने लगती थी/५४
१५. यही ठियां टिकुली हेराय गेलै दैया गे/५७
१६. बिहार में हिन्दी कहानी की यात्रा-कथा/६१
१७. भवप्रीतानंद ओझा : भक्ति गीतों के यशस्वी गायक/६७
१८. मिला था शाम मुझे इक बुझा हुआ चेहरा/७०
१९. डॉ. तेजनारायण कुशवाहा : एक भोजपुरी का अखंड अंगिका प्रेम/७३
२०. 'सरल' सचमुच में सरल थे/७६
२१. शताब्दियों के सफर का शिलालेख/७८
२२. यह सवाल सिर्फ अंगिका भाषा का नहीं है/८१
२३. केन्द्र को कौन बताए कि अंगिका व्युत्पन्न भाषा नहीं है/८५
२४. 'साँवरी' के साज में भाषान्तरकार की भव्य भूमिका/९०
२५. 'कोलाहल' का संगीत/९२
२६. दोहे के दो चरण : रामधारी और धनञ्जय/९५

देश की आजादी की पहली लड़ाई लड़ी थी दार्शनिकों ने

आज इतिहास के पन्ने को काल्पनिक राष्ट्रवीरों के नाम से भरे जाने की प्रथा चल पड़ी है, ऐसे में उन राष्ट्रपुरुषों का नामोल्लेख कौन करेगा, जिन्होंने इस देश की आजादी कायम रखने के लिए बिना किसी प्रतिष्ठा या धन-प्राप्ति के लोभ से, जीवन की आहुति दे दी । राष्ट्र के लिए चुपचाप लड़ते हुए शहीद हो जाने वाले स्वतंत्रता सेनानी में ऐसे ही थे—भारत के पश्चिमी प्रांतों के ब्राह्मण दार्शनिक ।

सदियों से भारतीय दार्शनिकों के हिस्से में जो कर्म आया है, वह है—सृष्टि और ईश्वर के संबंध में चिंता करना और फिर इनके अवांतर मानव के अस्तित्व तथा परिणाम का लेखा-जोखा जुटाना । वे जीवन के भोग तथा जगत के कोलाहल से इसलिए मुक्त बने रहे कि उनकी नजरों में सृष्टि स्वयं मिथ्या थी, तब इसके मध्य के कर्मों के मिथ्यात्व से वे कैसे जुड़ते । लेकिन यह देखकर असीम आश्चर्य होता है कि जीवन-जगत से उदासीन कभी उन्हीं भारतीय दार्शनिकों ने राष्ट्र और राष्ट्रीयता के लिए शास्त्रों को छोड़ हाथों में तलवारें ग्रहण कर ली थीं ।

यवन आक्रमण

यह वह समय था, जब यवनों का आक्रमण पश्चिमी भारत पर हुआ था । विश्व-विजय का स्वप्नदर्शी आक्रमणकारी सिकंदर जब भारतीय मिट्टी पर पहुँचा, तब उसके पराक्रम की शौर्यगाथा सुनकर भारतीय नरेशों का शौर्य मंद पड़ गया था । संगठित होकर यवन आक्रमणकारियों के विरोध का भाव भी लुप्त हो गया था । तब देश की उस निस्तेज राजनीतिक स्थिति से सर्वाधिक दुःखित-पीड़ित हुए थे—जगत से उदासीन रहनेवाले भारतीय दार्शनिक । इन्होंने प्रजा में क्रांति की आग भरना शुरू कर दी ।

राजाओं को विदेशियों के आक्रमण के विरुद्ध तैयार करना प्रारंभ किया और जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत के पश्चिमी क्षेत्रों में एक नये किस्म का विद्रोह भड़क गया ।

दार्शनिकों का विद्रोह

इन दार्शनिकों के क्रांतिकारी आह्वान का परिणाम यह हुआ कि यवन सैनिकों ने विद्रोही राजाओं-प्रजाओं को दबाने की जगह पहले विद्रोही दार्शनिकों का सफाया करना ही आवश्यक समझा । यवन सैनिकों की इस नीति की खबर लगते

ही उन दार्शनिकों ने साम्राज्यवादी यूनानियों का विरोध करते हुए देश के लिए उत्सर्ग हो जाना ही श्रेयस्कर समझा । वैसे यह बात भी सही थी कि समृद्ध, प्रशिक्षित यवन सैनिकों के समक्ष इन भारतीय दार्शनिकों का ठहर पाना किसी तरह भी संभव नहीं था, लेकिन उनका स्वाभिमान उन्हें उन आक्रमणकारियों के समक्ष किसी तरह झुकने भी नहीं दे सकता था । उन्होंने उन भारतीयों को भी जी भरकर धिक्कारा, जो अपनी कायरता और धन-लोभ के कारण विदेशी आक्रमण के सामने नतमस्तक हुए जा रहे थे । उन दार्शनिकों के लिए विदेशी प्रभुत्व के सामने नतमस्तक होना, उसके आदेश को स्वीकारना—पाप था, इसी कारण जहाँ उन दार्शनिकों ने सिकंदर की सेना का स्वयं सामना भी किया, वहाँ सिंध के राजाओं को भी विदेशी सेना पर भारी आक्रमण के लिए प्रेरित किया ।

नतीजतन, अपने मार्ग के प्रबलतम विरोधी उन ब्राह्मण दार्शनिकों को खतम कर देने के लिए क्रुद्ध सिकंदर ने हरमतेलिया (ब्राह्मणावाद) पर ही आक्रमण कर दिया और क्रांति का पांचजन्य फूंक रहे उन हजारों दार्शनिकों की गरदनें उतरवा दी, जिनके रहते सिकंदर को भारत पर विजय की बात तो दूर, वह इस राष्ट्र की सीमा को भी ठीक से छू नहीं सकता था । यूनानी इतिहासकार माइक्रिंडल ने भी अपने इतिहास ग्रंथ 'इन्वेंशन ऑफ अलेक्जेन्डर' में उन भारतीय दार्शनिकों की अद्‌भुत् वीरता का उल्लेख किया है । इतिहासकार मजूमदार के ग्रंथ 'एनशियेंट ज्याग्राफी ऑफ इंडिया' में तो इसका उल्लेख है ही । यूनानी इतिहासकार डाओडोरस ने उन आक्रमणकारियों के हाथों मारे जाने वाले दार्शनिकों की संख्या ८०,००० बतायी है । इतिहासकार लिखते हैं कि जब यवन सेनाओं ने उन दार्शनिकों के नगर ब्राह्मणावाद पर आक्रमण किया, तब अपने को सुरक्षित रख पाने में असमर्थ होने पर उन्होंने अपने-अपने घरों में आग लगा दी और विद्रोह को और भी तेज करने के लिए बचे हुए दार्शनिक नगर से बाहर हो गए । कई यूनानी इतिहासकार यह भी लिखते हैं कि सिकन्दर के मन में उन विद्रोही दार्शनिकों के प्रति श्रद्धा थी और उनकी बुद्धिमता और वीरता से प्रभावित होकर वह उन्हें अपने देश ले जाना चाहता था । लेकिन उन स्वाभिमानी दार्शनिकों को यह किसी भी तरह स्वीकार नहीं था और उन्होंने दासता स्वीकार करने की जगह युद्ध में लड़ते हुए वीरगति पाना ही श्रेयस्कर समझा ।

कालनेति का जवाब

उनके स्वाभिमान का पता तो इसी एक घटना से लगाया जा सकता है कि जब सिकन्दर के आदेश पर सेनापति ओनिसिक्रिटस तक्षशिला के दार्शनिकों को अलेक्जेंडर के पास ले जाना चाह रहे थे, तब उन दार्शनिकों में एक कालनोस

(कालनेमि) ने सेनापति से कहा था कि अगर तुम्हारा राजा मेरे प्रवचन को सुनना चाहता है तो उसे भी मेरी तरह नग्न होकर पत्थर पर लेटना होगा—जैसा तुमने मुझे देखा है । इस घटना का उल्लेख यूनानी इतिहासकार प्लूटार्क ने भी किया है । कालनेमि और आज के चिन्तकों को आमने-सामने रखकर यह समझा जा सकता है कि एक पराधीन भारत के विचारक-बुद्धिजीवी आजाद भारत के तथाकथित बुद्धिजीवियों से कितने श्रेष्ठ थे, जिन्हें सत्ता और ऐश्वर्य का मोह तनिक भी विचलित नहीं कर सका था ।

कालनेमि का प्रायश्चित

इतिहास में इसका भी उल्लेख आया है कि अंत में कालनोस ने सिकन्दर के आग्रह पर यूनान जाना स्वीकार कर लिया था, लेकिन इस कारण उस समय के सभी दार्शनिकों ने उन्हें घृणा का पात्र बताया था और कालनेमि को दार्शनिक पद से पदच्युत कर दिया था । संभवतः आत्मग्लानि के कारण ही कालनेमि सिकन्दर के साथ यूनान नहीं पहुँच सके और मार्ग में ही रुग्ण हो गए । भारतीय चिन्तन के अनुसार रुग्ण शरीर को धारण करना पाप है । कालनेमि ने सिकन्दर से कहकर अपनी चिता सजवायी और सिकन्दर के सारे आग्रहों को ठुकराते हुए चिता पर लेटकर भस्मीभूत हो गए । अर्थ-लोभ में आ जाने के बाद भी भारतीय मूल्यों के प्रति ऐसी आस्था का यह एक अद्‌भुत उदाहरण है, लेकिन इससे भी कहीं अधिक उल्लेखनीय यह है कि कालनेमि के अद्वितीय दार्शनिक होने के बावजूद भी उन तमाम अन्य दार्शनिकों के द्वारा उनकी उपेक्षा कर दिया जाना, क्योंकि कालनेमि ने अर्थ के लोभ में राष्ट्रद्रोहियों के आग्रह को स्वीकार कर लिया था । वे दार्शनिक ऐसे अराष्ट्रीय चिन्तक को कैसे भारतीय होने की संज्ञा दे सकते थे । इतिहास में इसका उल्लेख है कि उन राष्ट्रप्रेमी दार्शनिकों ने यूनानियों से कहा था, 'कालनोस (कालनेमि) जो तुम्हारा मित्र है, वह हमारा मित्र नहीं हो सकता । वह एक अभागा प्राणी है और वह एक अत्यन्त अभागे प्राणी की तरह दया का पात्र ही है, क्योंकि उसने अर्थ से प्रेम कर अपनी आत्मा की हत्या कर ली है, इसलिए न तो कालनेमि हम दार्शनिकों के योग्य है और न ईश्वर के ।'

('कादम्बिनी', मई १९९९)

आधुनिक अंगिका काव्य में प्रकृति का मंजरी महोत्सव

लोकविश्वास ही नहीं, आयुर्वेद का भी कथन है कि हथेलियों में अगर आम्रमंजरियों को घंटों रगड़ा जाए तो रगड़नेवाले के शरीर में वह औषध पैदा हो जाता है, जो कठिन से कठिन विषधरों के दंश का प्रभाव उस पर नहीं पड़ने देता । झूठ कौन कहेगा, जबकि जीव और चेतन पर बिना कुछ किए कराए ही मंजरियों का इतना व्यापक असर देखा जाता है और तब स्वाभाविक ही है कि रूप, रस, गंध जैसी तन्मात्राओं के उपासक संवेदनशील कवियों को आम्रबौर और भी आकुल-व्याकुल कर दे ।

अंगिका भाषा के आधुनिक काव्य में आम्रमंजरियों के सम्मूर्त्तन के पीछे भी यही बल पहले काम कर रहा हो तो क्या आश्चर्य । वैसे वसंत आता ही है आम्रमंजरियों के रथ पर चढ़ कर, इसी कारण वसंत का जिक्र हो और मंजरियों का नहीं, यह तो अस्वाभाविक ही होगा, इसके बिना वसंत शोभे भी तो कैसे ? यूँ तो वसंत जब आता है, तब अपने साथ गन्धों की बारात लिए और फूलों की अनन्त छवियों को समेटे ही, लेकिन इन गन्धों और छवियों के बीच आम्रमंजरियों का जो अपना वैभव होता है, उसका जादू सबसे अधिक सर चढ़ कर बोलता है और यही कारण है कि वसंत-चित्रण के क्रम में अंगिका कवियों से बहुत कुछ छूट भी गया हो, लेकिन वसंत के इस जादू से वे बंधे बिना नहीं रह सके हैं,

'दिन बितलै, ऐलै रात अन्हार
बही गेलै मंजर-मकूल के गन्ध
हवा के छाती पर
छुटलै दिगन्त पर फूलों के शर
झर, झर, झर/झरलै वसंत अनुराग
रागमय जीवन ।'

आम्र की मंजरियाँ जीवन को रागमय बना देती है । यह सिर्फ महाकवि सुमन सूरो ही नहीं स्वीकार करते, अन्य कवियों की तरह अनिल शंकर झा की कविताओं से भी यही लोकमन बोलता है,

'कटलों पतंग नाखी
उलझै छै चाँद
मंजर लदलों वृक्ष सें
तोंहे आवों ।'

आम्रमंजरियों की सुगन्ध यूँ तो दिन में भी बौराती है, लेकिन रात के समय इसकी गंध और चांदनी के बीच इसका रूप-यौवन तो और भी मन को आकुल-व्याकुल कर देता है, जिसके कारण ही महाकवि सूरो और अनिल जी ने रात के सन्नाटे में पसरती मंजरी की सुगंध को अपनी कविताओं में समेटने से नहीं चूके हैं ।

यह भी सही है कि अंगिका के कवियों ने वसंत की शोभा को हमेशा उसकी सम्पूर्णता में ही देखने का लोभ दिखाया है, और यही कारण है कि वसंत का जहाँ-जहाँ चित्रण है, वहाँ-वहाँ मंजरी के गंध-रस से सिक्त परिवेश के साथ-साथ सरसों, पलास के खिलने की बात भी नहीं भूलते,

गोटा केरों पीरों फूल फूललों छै क्यारी पर
मंजरैलों आम, नीम, चिकनों फुलाय छै ।

उमेश जी की तरह ही अंगिका के अधिकांश कवियों ने वसंत के विभिन्न उपादानों के चित्रण क्रम में ही आम्रमंजरियों का उल्लेख किया है और यह तब भी, जब होली के राग-रंग में डूबे जनमानस का चित्रण हो रहा हो । वसंत में जितनी छटा लेकर होली आती है, उससे कम छटा लेकर आम्रमंजरी नहीं आती । होली में तो रंगों की बारिश होती है, लेकिन आमंम्रजरियों से तो रस और गंध, दोनों की ही बारिश । इसी बात को तो अंगिका के कवि परमानंद प्रेमी कहते हैं,

'आमों के मंजरी सें डाल झुकी गेलै
मंजरों सें रों स टपकै छै ।'

आम्रमंजरियों के अंगिका गीतों में कवियों ने सिर्फ आम्रमंजरियों को रससिक्त होने तक ही नहीं देखा है, उसमें छोटे-छोटे फल निकल आने तक को देखा है । श्री स्नेही की कविता की एक पंक्ति है,

'ऊ मंजर टिकोलबा के झुमका फुदना'

गेना प्रबंध-काव्य में वसंत का उल्लास कुछ इस तरह से चित्रित है,

'वसंतों सें मोजरै छै आमों के ठारी
टिकोला बुलावै पुकारी-पुकारी ।

कवि सूर्य नारायण के वसंत गीतों में आम्रमंजरियों से लेकर उनमें टिकोले निकल आने और मन पर उनके मादक प्रभाव के अदभुत चित्र हैं,

बौरैलों आमों के मंजर सें
मदैलों टिकोला टहकें लागै छै
बहकें लागै छै नीयत के पाँव ।'

आम्रमंजरी के इसी मादक प्रभाव के कारण सुभाष भ्रमर के गीति नाट्य 'उषा' की नटी, नट के अनुनय करने लगती है,

'मंजरैलों छै आम गाछ, मद टपकै कोयलो गावै छै
मधुवैलों आमी गाछी तर बैठों प्राण जुड़ावों नी ।'

मधुआये आम्रबौर की गंध जो घर-घर घुस कर लोगों को उन्मत्त बना रही है, कवि उचितलाल सिंह के शब्दों में,

'घरे घर परछै मधुवैलों गंध
ठोर-ठोर लरजै फगुवैलों बंध
अँचरा में उपटै नेह
भाँसै लंगर
उगलै मंजर

ऐसे गंधयुक्त मंजर को कवि अनिरुद्ध प्रसाद विमल ने 'वसंत का सिरमौर' के रूप में ही चित्रित किया है,

'की सजी संवरी कें वसंत ऐलों छै
आमों रों मंजरी रों मोर पिन्हलें

और यही आम्रबौर 'ऋतुरंग' में राजा वसंत के सर पर 'मोती के मोर' के तरह दिखते हैं, और शरीर पर रेशमी वसन की तरह—

राखलें छै माथा पर मंजर के मोरी
ससरै छै सोना रों रेशम पटोरी ।

संकेत हुआ है कि अंगिका काव्य में आम्रबौर का चित्र अकेले नहीं आया है, यह हमेशा ही अपने वन्य शोभाधर्मियों के साथ ही आया है । लेकिन यहाँ भी कवि ने उसे विशिष्टता प्रदान करने के लिए या तो सबसे पहले रखा है या फिर कोयल की कूक के साथ ही । कवि रविन्द्रनाथ रवि वसंत में सबके फूलने की बात तो करते हैं, लेकिन सबसे पहले आम्रमंजरी की है,

'अमुआ मंजराय छै, जामुन लजाय छै
अँगना पिछुवारी में
शहजन फुलाय छै ।''

लेकिन कवि जयप्रकाश जयी कोयल की कूक के बाद आम्रमंजरी की बात करते हैं,

'कुहुकी उठलै कोयली
आवी गेलै वसंत
अमुआं मंजराय गेलै ।'

कोयल की कूक से आम्र मंजरी का अजीब आत्मीय रिश्ता है । आम्र मंजरी के रससिक्त होने का अर्थ ही है कोयल की कूक का जाग उठना, क्योंकि सबसे

ज्यादा आम्रमंजरी की मादक गंध का प्रभाव कोयलों पर ही होता है । और शायद यही कारण है कि अंगिका के कवियों ने अनेक बार वसंत-काल में आम्र मंजरियों का उल्लेख न कर सिर्फ कोयल की कूक से ही काम ले लिया है । लेकिन अधिकांश कवियों ने मंजरी के बिना कोयल को भी नहीं स्वीकारा है । यही कारण है कि एक ओर जहाँ अंगिका भाषा की प्रिय कवयित्री सान्त्वना साह मंजरी का समानुभूतिक बिम्ब प्रस्तुत करती लिखती है,

मंजर सिसकी टिकोला भेलै बाबरी
अक्खा मिच्ची खेलै लेॅ चलोॅ सांवरी ।

वहीं अंगिका के आधुनिक निगुणिया संत कवि छोटे लाल मंडल को भी आम्र मंजरियों से भरी आम्र डालियों को देखकर कहना पड़ता है,

'अमुआ के डरिया में लागलै मंजरिया
कोयलिया बोलै छै
हिरदय में उठै छै हिलोर, कोयलिया बोलै छै ।

तब स्वभाव से ही रसप्रिय और रस के साधक कवि परशुराम ठाकुर ब्रह्ममवादी आम्रबौर के समय में यदि यह कह उठे तो क्या आश्चर्य कि,

वसंत राजा पंचवाण चलावै
एक वाण सखि मन उचटावै
दुसर वाण सखि मन बहकावै ।

आखिर वसंत के देवता कामदेव के पंचफूलों के पंच वाण में सबसे तीक्ष्ण और व्याकुल करनेवाला तीर तो आम्रमंजरी ही है ।

('दैनिक जागरण' भागलपुर, १५ मार्च २००५)

फिर बोल, बोल कि स, रऽ, रऽ.....

कल फागुन मुझे एक किताब दे गया—'शिव जी हीरो बनोॅ हो', इसमें आखरी गीत है, फगुआ दादरा,

नारी बनावोॅ किसुन रसिया केॅ
किसुन रसिया केॅ बिरजवसिया केॅ
सब्भे सखि मिलि साड़ी पिन्हावोॅ
चोली पिन्हावोॅ किसुन रसिया केॅ
बेंदी भाल नयन बीच काजर
चूड़ी पिन्हावोॅ किसुन रसिया केॅ
घुंघरू पिन्हावोॅ नथिया पिन्हावोॅ
नाच नचावोॅ किसुन रसिया केॅ ।

और मैं पढ़ते-पढ़ते सोचने लगता हूँ कि आखिर ऐसा क्यों होता है कि फागुन आते-आते सारे कवियों की गोपिकाएं बौरी हो जाती हैं, रसिक कन्हैया को साथ पाकर । आखिर इसके पीछे का मुख्य कारण क्या है । इस उन्माद या बौरा देने के पीछे दोषी कौन है ? ऋतु या प्रकृति ? शायद दोनों ही दोषी हैं । यह फागुन का महीना सिर्फ मद से मताने वाला ही नहीं होता, रोग से कृश करने वाला भी होता है । अब तो शिव जी हीरो बनकर हॉलीवुड, बॉलीवुड के चक्कर में पड़ गए हैं, नहीं तो बताते कि क्यों वह अपनी देह में भस्म मले रहते थे । फिर बारहो मास थोड़े ही, बस फागुन मास में मलते होंगे । वैद्ध बताते हैं कि राख में बीमारियों को दूर करने की क्षमता है, तभी तो गुणियों ने चुटकी भर राख रोगी के मुँह में नहीं रखी कि रोग गायब । कभी इसी फागुन में शीतला का प्रकोप अपने चरम पर होता था । मुझे लगने लगता है कि हमारे समाज ने शीतला के प्रकोप से बचने के लिए ही अपनी देह पर भस्म का लेपन शुरू किया होगा, जो बाद में धुरखेल में बदल गया।

आप मुझे पूछ सकते हैं कि राख और धूल में अंतर नहीं होता क्या..? होता तो है, लेकिन मैं ही आपसे पूछता हूँ, भांग और शराब में अंतर नहीं होता क्या ? एक समय था, जब लोग होली में भंग पीते थे, अब होली के आते भंग के शौकीन कई गैलन शराब दो दिन में पी जाते हैं, होली की मस्ती में । सुना है आपने कि अगर आदमी को दमा, वात हो जाए, या फिर अबस्मार और हिस्टीरिया, तो गांजा को छोड़ दारू पिलाने की सलाह वैद्य ने किसी को दी हो ? आप फिर पूछेंगे कि भांग से गांजा पर कैसे बात उछल गई । अरे भाई, भांग, गांजा और चरस—सब तो अपने भाई हैं । भांग के मादा में मंजरी फलित होने के पहले तोड़ लिया जाय तो गांजा

और क्षूपों के अंदर का रस गोंद बन जाए तो चरस ।

एक समय था, जब फूलों से रंग लिए जाते थे । फागुन में खिलने वाले पलाश, गुलाब, कनेल, कचनार के रंग निकाले जाते थे और तब एक-दूसरे की देह पर छिड़के जाते थे, पिचकारी में डाल कर । तब गोपिकाएं भी यही करती थीं । वासंती रंग के वस्त्रों में लिपटी गोपिकाएं सोलहो शृंगार में अबीर की झोरी लेतीं और द्वार पर आए कन्हैया को रंग में डुबो देतीं,

'सुखद वसंत में पहिरि के वासंती चीर
सोरहां शृंगार के अबीर लाल झोरी छै
भरी पिचकारी में रंगीली रंग ढारी धाय
गाय रस फाग राग श्याम रंग बोरी छै
दर्शन जू लाल के नै काज ब्रजराज आज
द्वार पे बिराजै खेलु भोर-भोर होरी छै.....'

पहले होली फागुन में होती थी, अब तो साल में पाँच बार चुनाव हो पाँच बार होली आती है । कवि कैलाश झा किंकर के शब्दों में,

इलेक्शन फगुआ बनलों जाय,
सब पर बंदूक तनलों जाय.....'

अब पाँच बार साल में होली होगी तो रंग आये कहाँ से, सारे फूल तो सारे समय में खिलते नहीं । रसायन से ही न बनेंगे । ये रसायन वाले रंग गोपिकाओं के गालों को अगर बदरंग कर रहे हैं तो चौंकिए मत । तब के जमाने में पलाश के रंग निकालने का मतलब था, सामायिक रोगों पर पिचकारी से प्रहार । पलास वात, कफ को ही नहीं दूर करते, शरीर में ओज जागृत करते हैं, चम्पा विषनाशक ही नहीं, हृदय शक्तिदाता भी हैं । तभी तो इनसे बने रंगों को डालते ही तन-मन खिल जाते थे, लेकिन इन रासायनिक रंगों से तो अब मन तक मुरझा जाता है । भले रसकवि परशुराम ठाकुर ब्रह्मवादी अपनी इच्छा व्यक्त करते फिरें कि 'अच्छा होतियै/ होलिये में बरसात होतियै/ नै पानी खोर्जे पड़तियै/ एक पुरिया रंगों में/ सौंसे धरती-आसमान रंगी जैतिये ।' पर यह सब होने वाला कुछ भी नहीं ।

अब तो वैसी होली रही, न होली पर कविता लिखने वाले कवि । पिचकारी में रंग भरकर किसी को सराबोर करना अच्छा भी नहीं लगता । बस चलता तो ये पिचकारी से शराब भरते और अपने कंठों में उतार देते और किसी के दरवाजे पर बैठ कर होली नहीं जोगीरा गाते,

'हरिया के बेटी किरिया बैठल दुकान पर
गला में शोभै सिकरी, मोती छै कान पर

एक नजर जे चल गेलै किरिया के जान पर
फिर बोल-बोल कि सा रा रा रा.....'

वैसे किरिया की जान पर मरने वाले भी कम रहे, इससे बेहतर वे होली में भांग पीने की जगह कलाली की दुकान पर जाकर जी भर जहरीली शराब पी कर मरना ही बेहतर समझते हैं, एक समय था जब फगुआ के अवसर पर अर्थी के निकालने का स्वांग भर होता था, अब तो स्वांग की जरूरत ही नहीं पड़ती । इसी से होली में सच पूछिये तो डर लगने लगा है । वह तो गनीमत समझिए कि पत्नी को लट्ठमार या गोटमार होली के बारे में जानकारी नहीं है, नहीं तो मुझ जैसे बेकार पति का, कब का इंतजाम हो गया हो होता, लट्ठमार होली के बहाने अपने देश में पता नहीं किन-किन परिस्थितियों में ऐसी होली का जन्म हो गया और आज भी नहीं खत्म किया जा रहा है, शायद इसी बहाने बदला चुका लेने के ख्याल से इस बार भी बीते साल की तरह होली आने ही वाली है और बीते साल की तरह ही जब कमजोर लोगों को नाले में गोता जायेगा, हुड़दंग से डर कर लोग साड़ी या बुरके में निकले की बात सोच रहे होंगे, महाराज जी की भांग वाली दुकान की जगह कलाली के कपाट खुले होंगे और ऐसे मौके पर भी किसी टोले से आती यह होरी नहीं सुनूंगा,

'दखिन देश नै जैइयों बलुमवा,
हम धनि रही जैबौ दुखारी, भवानी फूलों से'

तो मैं अपने मकान की छत पर दुबका, अपने अतीत की होली को याद करता गुम हो जाऊँगा,

'कहाँ छै हौ होली के रंगों के छर्र,
छर्र गिरै पिचकारी सें दूधे रं गर्र-गर्र
बदली जाय देहरी दुआरी के रंग रूप
गिरै आसमानों से एकदम गुलाबी धूप ।'

('दैनिक जागरण' भागलपुर, २२ मार्च २००५)

कैमरे की चमक में चमकते वे चेहरे

शहर की एक व्यस्त सड़क पर खड़ा हूँ । आँखें ढूढ़ती है उस स्टूडियो को । हाँ यही पर था वह स्टूडियो, अब नहीं है । लेकिन क्यों नहीं है ? जानने को मन बैचेन हो जाता है और मैं पहुँच जाता हूँ मित्र रंजन कुमार के पास । मेरी बातें सुनीं तो कहा,

देखते-ही-देखते नजरों से ओझल हो गये
मैंने तो जी भर के भी उनको कभी देखा न था ।

और फिर एक स्मृति के स्वर में कहते गये, फोटो की शुरुआत भले ही अरस्तु की खोज से जुड़ी हो और भले ही इस कला को पहली बार फोटोग्राफी का नाम सर जॉन हरसेल ने दिया हो, पर भागलपुर में फोटोग्राफी को जन्म देने वाले पहले व्यक्ति तो एन.एस. सिंह ही थे । शरत बाबू के समकालीन सिंह बाबू स्वयं बंगाली थे और उन्होंने ही पहली बार इस नगर में एन. एस. सिंह एण्ड संस स्टूडियो की स्थापना की । इनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र ने कारोबार तो संभाला, लेकिन शीघ्र ही अपना कारोबार समेट कर बंगाल चले गये । मुझे याद आ जाती है । डॉ. बेचन की, जिन्होंने कभी एक लेख लिखा था 'भागलपुर एक भागता हुआ शहर'। सिंह जी के पुत्र हरि सिंह का बंगाल चला जाना उतना दुःखदायी नहीं लगा, जितना यह जानकर कि भागलपुर के डी. एन. सिंह स्थित रोबिन स्टूडियो के चित्रकार रोबिन दा ने एक समय अपने फोटोग्राफर दोस्तों के बीच ही पानी वाले गंगा घाट में जल समाधि (?) ले ली थी और भागलपुर के हाथों से हठात् ही अद्‌भुत प्रतिभा का वह फोटोग्राफर छिन गया था । आखिर कलाकारों में इतनी भावुकता क्यों उतर आती है । इसी भावुकता ने कभी भागलपुर के चाड़ा गाँव के बहुचर्चित छायाकार सुचारू घोष की जान ले ली थी, पटना जंक्शन पर ट्रेन के नीचे आकर आत्महत्या कर ली थी सुचारू घोष ने । मैं भी चुप हो जाता हूँ और रंजन कुमार भी, जैसे दोनों ही एक दूसरे से कह रहे हों,

'मेरी तनहाइयों की दुनिया में
लोग रहते हैं आसपास बहुत'

तनहाइयों को मैं ही तोड़ता हूँ, सिटी स्टूडियो के बारे में पूछता हूँ तो वह बताते हैं, हाँ घोष दा ने सिटी स्टूडियो की स्थापना की थी, उनका पूरा नाम प्रभाष चन्द्र घोष था, लेकिन सभी उन्हें 'घोष दा' ही कहते थे । भागलपुर में 'निगेटिव रिटचिंग' की कला की नींव उन्होंने ही रखी थी । उनके स्टूडियो में पिचके और

दागदार गाल खिले गुलाब बन कर उभरते थे । इसी से भीड़ उनके यहाँ अपार उमड़ती थी ।

बंगाली फोटोग्राफर में मथुरा प्रसाद ही ऐसे थे, जो गैर बंगाली रहे और उन्होंने मिन्टो फोटोग्राफी को लोकप्रियता प्रदान की, यानि मिनटों में छायाचित्र ग्राहकों के सामने । मथुरा प्रसाद के बारे में कई लोकप्रिय कहानियाँ प्रचलित हैं, जिनमें एक है कि उन्होंने अपनी बेटी को बेटे के रूप में सहायक बना रखा था । यह तो बाद में लोगों ने जाना कि गोपाल नाम का लड़का उनका बेटा नहीं, उनकी बेटी है । इस मिन्टो स्टूडियो के लगभग एक दशक पूर्व, १९५० में डॉ. एन. अग्रवाल ने 'ग्रीनवेज' स्टूडियो की नींव रखी थी । अग्रवाल जी फोटो केमेस्ट्री के विद्वान थे, स्वयं तो थे ही और अन्य फोटोग्राफरों के बीच भी इस ज्ञान को बांटा था । इस शहर की फोटोग्राफी ग्रीनवेज के ऋण को भुला नहीं सकती । भुलाने के लिए तो इसी शहर के मातादीन वर्मा और वर्मा जी के द्वारा स्थपित वर्मा स्टूडियो को भी लोग नहीं भूल सकते, जो वर्मा जी बाद में अपना कारोबार समेट कर आसाम चले गये और एक तरह से उनकी लोकप्रियता का इतिहास भी प्रवासी हो गया ।

जाने के लिए एक नहीं, कई फोटोग्राफर अपनी अत्यधिक लोकप्रियता के बावजूद इस नगर से बाहर निकल गये । भागलपुर वर्क शॉप के प्रो. जे. राव, जो माहिर फोटोग्राफर के अतिरिक्त जादूगर भी थे, एक बार विश्वविख्यात जादूगर बड़े सरकार क्या आये, राव की प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें ही लेकर चले गये । १९५० में जिस 'छायाकार' की स्थापना नन्द गोपाल राय ने की, बाद में वह भी इस शहर को छोड़कर चले गये । बस 'प्रकाश स्टूडियो' के मालिक अनन्त बाबू ही तब इस शहर की फोटोग्राफी की दुनिया में प्रकाश फैलाते रहे, जिस प्रकाश को सूर्य की रोशनी में बदलने का काम बाबू सत्याग्रह सिंह ने 'रूपछाया' स्टूडियो की स्थापना से की ।

रंजन जी से मथुरा प्रसाद का नाम सुनते ही मुझे भदरिया के प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी श्री पाठक का स्मरण हो आया, उन्होंने ही मुझे बताया था कि शहीद सम्राट गोप की अन्त्येष्टि क्रिया में पाठक जी के अतिरिक्त मथुरा बाबू भी उपस्थित थे। सत्याग्रह बाबू के नहीं रहने के बाद तो रूपछाया की लोकप्रियता, फिर अस्तित्व भी लोककथा की तरह हो गया । एक ऐसी लोककथा जो सदियों से लोगों के कंठ में रहती है ।

और यही कारण है कि १९३९ में ही स्थापित चित्रशाला को सुचारू रूप से चला रहे रंजन कुमार भी बीती बातों को नहीं भुला पाते । १९३९ में स्थापित इस चित्रशाला का भी अद्‌भुत इतिहास है । रंजन बताते-बताते भाव-विह्वल हो उठते हैं,

''पिता हरिकुंज जी ने इसकी स्थापना रखी थी और नगर के सभी प्रख्यात फोटोग्राफरों का यह मिलन-स्थल था । यही नहीं, जब पृथ्वीराज कपूर अपनी थेयटर मंडली को लेकर भागलपुर आये थे, तब कपूर साहब के पिता श्री दिवान साहब इसी चित्रशाला में ही अधिकांश समय बिताते । जब पृथ्वीराज कपूर सहित दिवान साहब जाने लगे तो उन्होंने मेरे पिता को दो हजार वाट का 'प्रोजेक्शन लैम्प वाला स्पॉट लाइट' स्मृति स्वरूप दिया था । यह आज भी सुरक्षित है ।''

उन दिनों की याद में रंजन कुमार एकदम चुप से हो जाते हैं और मैं याद करने लगता हूँ चित्रशाला के उन गुजरे दिनों को, जब इसी चित्रशाला में महेन्द्र प्रसाद गुप्ता, कातो बाबू जैसे छायाकार ही नहीं, इसी स्टूडियो की छत पर हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार आचार्य चतुरसेन, रामधारी सिंह दिनकर, बंगला कथाकार बनफूल, हंस कुमार तिवारी, फणीश्वरनाथ रेणु, गोपाल सिंह नेपाली, रामेश्वर झा द्विजेन्द्र, उमा शंकर वर्मा की अपनी गोष्ठियाँ भी जमती थीं, और यही चित्रशाला उन दिनों महान सन्यासियों और संतों भूपेन्द्रनाथ सन्याल, महर्षि मेंही, आनंदमूर्ति, विन्दू जी महाराज के अमृत वचनों से भी मुखरित होती ।

एक अजीब-सी खामोशी मेरे और रंजन कुमार के बीच छा गई है और मैं इस खामोशी को तोड़ते हुए १९५० के आस-पास स्थापित सत्यवर्ती स्टूडियो के बारे में जानने के लिए निकल जाता हूँ । सत्यवर्ती स्टूडियो, जिसे ठाकुर स्वराज सिंह ने स्थापित किया था, मगर यहाँ भी तो,

तुम्हारे सामने होता हूँ तो हो जाता हूँ तन्हा
तुम्हारी याद में रहता हूँ तो तन्हा नहीं रहता ।

('दैनिक जागरण' भागलपुर, ५ अप्रैल २००५)

सोने की चम्पा, काजल का लोर

एक बड़ी छोटी-सी अंगिका लोककथा है—एक दम्पत्ति थे । काफी संतोषी। एक दिन पति खेत में काम कर रहा था कि कुदाल सोने के कलश से जा टकराया । पति ने देखा, कलश सोने की मुहरों से भरा है । फिर उसने नजरें उठायीं तो देखा, पत्नी उसका खाना लिए उधर ही आ रही है । उसने मन में सोचा कि सोना का कलश और मुहरें देखकर पत्नी का मन न कहीं डगमगा जाए, इसीसे जल्दी-जल्दी वह उस पर कुदाल से मिट्टी डालने लगा, जिसे उसकी पत्नी ने दूर से ही देख लिया । नजदीक आने पर पति से पूछा 'क्या कर रहे थे ।' तो पति ने सारी बातें सच-सच बतायीं, मन की शंका तक, और कहा इसीसे इस पर मिट्टी डाल रहा था । पत्नी ने सुना तो मुस्कुराते हुए कहा—'तुम भी अजीब हो, मिट्टी पर मिट्टी डाल रहे हो ।'

मुझे लगता है, अंगदेश की चम्पा में जिस स्वर्ण वैभव का साम्राज्य था, उसके पीछे अंगवासियों का सोने के प्रति यही विरक्ति भाव कारण होगा । सोने के संचय का कोई लाभ नहीं । अंगसम्राट सवा मन सोना रोज दान करते थे, हाथ पीछे करके । इसमें भी स्वर्ण के प्रति अनाकर्षण का भाव कहीं-न-कहीं छिपा है । बात सिर्फ उस दम्पति या दानवीर कर्ण की ही नहीं है, बुद्ध के समय में इसी चम्पा में सोना, चाँदी तो अन्न की तरह भंडारों में भरे रहते थे । चम्पा यानी देश का सबसे बड़ा बन्दरगाह । देशभर के व्यापारी चम्पा के बन्दरगाह पर अपने जहाजों का पड़ाव करते और चम्पा के व्यापारी विदेशों के लिए अपने जहाजों को सागर पर छोड़ते थे। चाँदो सौदागर की कथा कथा नही इतिहास है । इतिहास उलटिए और पढ़िए कि इसी चम्पा में जैनपंथ के उत्कर्षकाल में यहाँ कामपाल नाम का सेठ था, जो उठारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं और दस करोड़ गौओं का मालिक था । नब्बे लाख गौओं के मालिक बाबा बिसुरौत इसी चम्पा में ही हुये । कामपाल के ही काल में कुमार नंदी नामक भी स्वर्णकार हुआ, जिसके संबंध में यह उल्लेख मिलता है कि उसकी सम्पत्ति कुबेर को भी मात देने वाली थी । बुद्धकाल में भी यह चम्पा अपने अगाध ऐश्वर्य से सम्पन्न रही । इतिहासकार सहृदय ने ग्रन्थ 'महावग्गो' का हवाला देते हुए लिखा है कि चम्पा नगरी में शौणकोटिविंश नाम का एक ऐसा भी सेठ था जो बीस करोड़ स्वर्णमुद्राओं का मालिक था, उसके खजाने में अस्सी बैलगाड़ियाँ हिरण्य मुद्राओं की थीं और उसके दरवाजे पर उनचास हाथियों का झुंड झूमता था । कहते हैं शौणकोटिविंश के पांवों के तलवों में रोएँ उगे हुये थे, जो बाद में बौद्ध

भिक्षु होकर राजगृह में जा बसा । विश्वास कोई करे-न-करे, लेकिन इतिहास कहता है कि अंग जनपद में पालवंश के अन्तिम राजा इंद्रद्यूम्न, जिसकी राजधानी अंग के पश्चिम लखीसराय में थी, की पत्नी कमल के वृहताकार स्वर्ण-पत्र पर स्नान करती थी, जो डूबने की तो बात अलग, हिलता तक नहीं था । इतिहासकार हवलदार त्रिपाठी सहृदय का अनुमान है कि यह स्वर्णकमल पत्र सोने की चौकी रही होगी । कुछ भी हो, इन बातों से यह तो सिद्ध होता ही है कि अंग की राजधानी चम्पा कभी सोने के पलने पर झूलती थी ।

आखिर क्या हुआ कि अचानक चम्पा का भाग्य, चानन, चीर और बड्डुआ की धार की तरह सूखता चला गया ! मैं चम्पा के ही पत्रकार राजेन्द्र प्रसाद सिंह से पूछता हूँ तो उनका उत्तर होता है—इसलिए कि चम्पा की महानदी सूख गई । झूठ भी नहीं है । लेकिन इतना ही कारण है क्या ? नहीं । चम्पा का भाग्य तो उसी दिन से सूखने लगा था, जबकि अंग-मगध की सीमा बनी क्यूल नदी में कूद कर अंग ने अन्तिम नरेश ब्रह्मदत्त ने आत्महत्या कर ली और मगध, जो कभी अंग के अधीन था, अंग का विजेता बन बैठा । यह बात विम्बसार काल की है । मगध के शासनकाल में अंग का ऐश्वर्य धूमिल पड़ने लगा । मगध का युवराज का अंग का उपराज बनना शुरू हुआ और उपराज कोणिक के समय में अंग का इतना अधिक शोषण हुआ कि प्रजा ने राजा तक उसकी शिकायत पहुँचाई थी, कोणिक ही इतिहास का अजातशत्रु है । अंग मगध के नन्दवंश और मौर्यवंश के शासन से कभी मुक्त नहीं हुआ और जब बृहद्रथ की हत्या कर पुष्यमित्र ने शुंगवंश की नींव डाली, तो अंग शुंगवंश के शासन के अधीन हो गया । इतिहास इसका साक्षी है कि कलिंग के राजा खारबेल ने मगध पर दो बार आक्रमण किया था और उसने मगध के साथ अंग से अपार धन को समेट कर अपने कोष में जमा किया था । शुंगराज देवभूति की हत्या कर जब अमात्य वासुदेव ने कण्ववंश की नींव डाली तो मगध के साथ स्वभवतः अंग भी उसके राज्य क्षेत्र में आ गया और जब कण्वों को पराजित कर सतवाहन राजा पुलुमापु ने मगध को अपने अधीन किया तो अंग भी मगध के दुर्भाग्य का शिकार हुआ, जो स्वभावतः होना था, और जब कुशानवंशी राजा कनिष्क ने मगधराज को पराजित कर उस पर विजय हासिल की, तब मगध के साथ अंग भी उसका विजित देश बन गया । मुरुण्ड और कोटवंश के शासनोपरान्त समुद्रगुप्त का मगध पर आधिपत्य हुआ तो अंग का भाग्य भी गुप्त राजाओं की मुट्ठी में सिमट गया और फिर जब गौड़ राजा शशांक का साम्राज्य विस्तार हुआ तो अंग उसके शासन-क्षेत्र में सिमट गया । पालवंशियों के शासन काल में अंग पालवंशी राजा और चन्देलों के शासनकाल में अंग चन्देली आधिपत्य के अधीन रहा और जब पालवंशी राजा

मदनपाल को पराजित कर विजयसेन ने बंगाल में सेन वंश की नींव डाली तो अंग सेन वंश के अधीन हो गया । बाद में कन्नौज के गहड़वाल वंश के प्रतापी राजा गोविन्द चन्द्र ने मगध के साथ-साथ अंग को भी अपने अधीन कर लिया और फिर जब तुर्कों की आंधी आई तो अंग का भाग्य भी सदा के लिए छिन्न-भिन्न हो गया ।

सरदार मलिक इसामुद्दीन ने जब अपने नौकर इख्तयारूद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार को चुनार के आसपास का प्रदेश सौंपा, तो उसने न केवल बिहारशरीफ को लूटा, अंग भी उस लूट का शिकार हुआ । विक्रमशिला का ज्ञान ही नहीं जला, चम्पा का बचा ऐश्वर्य भी खत्म हो गया, जो शशांक काल तक समाप्त नहीं हो पाया था । ह्वेन सांग के विवरण में इस काल की चम्पा की समृद्धि का विवरण उल्लखित है । इसमें कोई मत नहीं कि मौर्य, शूंग और सतवाहन के शासन काल में इस चम्पावासियों ने अपनी समृद्धि को किसी भी तरह खत्म नहीं होने दिया था । अपनी समृद्धि, सुरक्षा के लिए ये चम्पा पुत्र चम्पा के बाहर विदेशों तक गये और विदेशों में चम्पा राज्य की स्थापना की और इस तरह चम्पा के ऐश्वर्य को कायम रखा ।

लेकिन आज न तो इन चम्पावासियों के पास वह चम्पा महानदी है और न वह हौसला । राजेन्द्र प्रसाद सिंह इस चम्पा में जगह-जगह चम्पा के वृक्षों को लगा कर चम्पा का इतिहास बचाना चाहते हैं । लेकिन इससे क्या वह इतिहास बच जायेगा ? शोणकोटिविंश का इतिहास लौट जायेगा ? ऐश्वर्य से अघाये, सोना को माटी समझने का इतिहास; जिस अंग के लोग सोना को साँस की तरह ग्रहण करते और छोड़ देते थे ? अब तो चम्पा के पास न चम्पा के फूल ही हैं, न वे सोने की गाड़ियाँ, गाड़ियाँ क्या, थैली तक नहीं है ।

इतिहास गवाह है कि इसी चम्पा की बेटी विशाखा ने कभी बुद्ध धर्म के लिए नैहर से मिले नौ करोड़ के आभूषण 'महालता' को दान में दे दिया था और बाद में मिगारमाता के नाम से प्रसिद्ध होने पर विशाखा ने बौद्ध के लिए सत्ताइस करोड़ का दान किया था । आज चम्पा के पास कर्ण, शोणकोटिविंश और मिगारमाता की कहानियाँ तो हैं, लेकिन देने के लिए हाथ में शायद कुछ भी नहीं ।

('दैनिक जागरण' भागलपुर, ५ जुलाई २००५)

साजि चललै जलधार

तित्तिर पांखे मेघ, विधवा करै सिंगार
इक बरसै, इक उड़रै कहि गेलै डाक गुबार ।'

यह दोहा १६वीं १७वीं सदी के बीच के कवि डाक गुआर का है । वर्षा के प्रभाव का इससे बढ़ कर और क्या कथन हो सकता है । अगर बादल तित्तिर के पंख के रंग-सा हो जाय, तो विधवा भी शृंगार करने लगती है और वह बादल उधार बरसता है, इधर विधवा घर छोड़कर भाग जाती है । वर्षा होती ही है ऐसी चीज, आषाढ़ आया नहीं कि आकाश कंधे पर घुमड़ते बादल के पहाड़ उठा कर चल पड़ा, जिसमें बिजली की कड़क अलग है और जिसे देख कर अकेली बैठी नायिका के कंठ से बारहमासा चौमासा फूट पड़ता है,

ठनका जे ठनकै रामा
बिजुली जे चमकै
से देखि जियरा डराय हे

अंगिका के इस पारंपरिक बारहमासे से अलग नये कवियों ने भी बारहमासा लिखे हैं, लेकिन बारहमासा तो बारह मासों का वर्णन है, ओर वर्षा का मतलब होता है—आषाढ़, सावन, भादो और क्कार । इसी से अंगिका के नये कवियों ने वर्षा को सीधे-सीधे चौमासे के पावस को ही अपनी कविताओं में उतारा है ।

और अंगिका में अवधूत कवि के रूप में जाने जाने वाले भुवनेश्वर सिंह भुवन ने निर्मोही बादल से जैसे ही यह कहा,

अग जग शोर मचैने आबोॅ
रिमझिम रस बरसैनें आबोॅ
सबुजा चुनर भिजैनें आबोॅ
अंग-अंग सरसैनें आबोॅ

कि इधर कवियों की दुनिया में शोर मच गया । तेजनारायण कुशवाहा पुलकित हो बोल उठे,

के उतरलै घोघोॅ लेनें
ई चढ़तें आखाड़ में
ताल तलैया बैहियारोॅ में
पत्थर पहाड़ में

तो उधर अनिल शंकर झा ने बाल स्वभाव में शोर किया,

आबी गेलै झकसी के दिन
दिन फरू मेघ राजा
हवा पे सवार हो ।

और फिर आषाढ़ के बाद सावन भी आ गया । सबने अपने लिए कुछ-कुछ कहा, लेकिन अच्युतानंद चौधरी लाल ने सबसे पहले विरहिन की सुधि लेते हुए कहा,

अरे राम ऐलै नै परदेशिया
सावन आबी गेलै ना

लेकिन सावन जब कवि को ही उन्मत्त कर दे, तो फिर वह किसी सुधा ले । भक्त कवि बांके बिहारी करील पर ही इस सावन का असर तो देखिए,

लागै वृन्दावन मनभावन
सजनी सावन पावन ना
धन गरजै पुरवैया डोलै
हिय उमगावन ना

अब जब सावन आ ही गया है, तो भक्त कवि भवप्रीतानंद ओझा को कदम्ब के नीचे बांसुरी और कोयल की कूक सुनाई न दे यह तो हद हो जाय,

कदम रोॅ डाल चढ़ि
बोले कोयलिया
कि वहेँ तरें बाजै बांसुरिया
गरजी बरसै मेघा
कि नाचै मोरा
खोली पूंछ के टिकुलिया

लेकिन इस सावन में तो माहेश्वर झा व्यथित का आंगन ही गंगा-यमुना हो रहा है,

बरसि गेलै बदरा मोरे अंगना
कि बनी गेलै अंगना गंगा-यमुना

अब किसी का आंगन गंगा-यमुना बने तो बने, और भले परशुराम ठाकुर यह कहे तो कहे कि,

बरसा रहि रहि हमरा सतावै
कखनू ऊपर कखनू नीचें
घेरि-घेरि भिंजावै

और भले अनिरुद्ध प्रसाद विमल ही यह कहें,

आय तोहें नै/तें ई बरसा नै सुहावै छै
तड़पै छै जी/विलखै छै मोंन
धड़कै छै छाती/लगै छै देह में कोय
अग्निवाण मारलें रहें

लेकिन डोमन साहु समीर तो यही कह रहे हैं,

लहकै पुरवैया कि लरकै बदरिया रहि-रहि
मारै कनखी बिजुरिया कि रहि-रहि
बरसै जे पनियां कि चुवै अगरियां भरी आनौं
कैसे खाली गगरिया कि भरी आनौं

अब जब सावन में समीर जी की यह हालत हो, तो भक्त कवि छोटे लाल मंडल काव्यतीर्थ को सच-सच सब कहने में ही क्या संकोच,

पनिहारिन के मन उमगै छै बदरा कें ललकारै छै
चुनरी हमरों भिंजा रे बादल कैहिनें हुन्नें भागैं रे ।

बातें यहाँ तक पहुँच जाय तो दोष तो बादल और बरसात का ही है और उस पर भी अगर मेघाछन्न बरसा की आधी रात हो तो प्रेम का बौरा जाना वैसे भी स्वाभाविक है । महाकवि सुमन सूरो ने यही तो कहा है,

बरसा के दुपहरिया रात
पानी से ढलमल छै मेघ
सुतलों छै छाती सें छाती सटाय
अन्हारों, इंजोरिया में लागलों छै जोड़
फुसकै छै की-की अनर्गल सब बात ।

बरसात की रात का अगर एक दृश्य यह है, तो दूसरा दृश्य प्राण मोहन प्राण की इन पंक्तियों में भी देख लीजिए,

गरजै छै मेघ पिया लागै छै डोंर
चमकै छै बिजली तें धड़कै छै छाती
चमकी-चमकी उठै छी आधे-आधे राती
गुज-गुज अन्हरिया में उठी-उठी बैठै छी
छुच्छे बिछौना पर सांपों रं ऐठै छी
पुरबा बौछारों सें जरै छै धोंर

ठीक यही हाल तो भगवान प्रलय की कविता की नायिका की भी है,

सावन बरसै तें हमरे करम जरी जाय
मोंन एहने कहै कि ऊ घोंर घुरी जाय

लेकिन किसी के कहने, सुनने, सोचने से क्या होता है । अब तो चाहे जा हो, पावस तो बरसेगा ही और प्राण या प्रलय की नायिकाओं का ख्याल करके कवि झूमेंगे नहीं, ऐसा भी नहीं होगा । कवि राकेश रवि को ही देख लीजिए, सबके साथ यह भी मल्हार गा रहे हैं,

बरसे छै रिमझिम जलधार हे
गावै छै सब्भै मल्हार हे

भले ही राजकुमार के गीतों की नायिका पावस भर यह शिकायत करती रहे,

टिटही रं टगलों जीवनमा हे भौजी
नींदयों नै आबै

और कवि बैकुंठ बिहारी की नायिका पावस के हाथों पिया के पास संदेशा भेजने में व्याकुल,

जैइहै रे बदरिया, साजन के जगरिया
लेलें जेइहै हमरों खबरिया

लेकिन कवि राम शर्मा अनल तो इस पावस की शोभा पर मुग्ध मुग्ध है, तभी तो उनका 'मन भागै पुरबी बहियार'

पनसोखा देखी कें गीत भी जहाँ गावै चिरय
बगुला के पंक्ति जहाँ उड़ै हजार लगातार
खेतों में घोंघी घूमै आरो बुलै छाता

यह सिर्फ कवि उचित लाल सिंह की ही बात नहीं कि उन्हें,

बदरा के रिमझिम में झपसी के झिमझिम में
धरती के गंध गमक खूब अच्छा लागै छै

पावस का सौंदर्य देख कर तो कवि मुरारी मिश्र भी बहक रहे हैं,

हमरों मनमा में नाँचै छै मोर
कि बदरा बहार बनलै

अब इसका कारण तो विनय प्रसाद गुप्त की लंबी कविता 'सावन' में भी मिल जायेगा,

मेघों के काजल बादल के ढोल
झमझम बरसा घुंघरू नाँखी बाजै छै
पानी के खलखल धार सारंगी नांखी बाजै छै

ऐसे ही नहीं कहते हैं सूर्य नारायण,

ऐलै बरसा के दिनमा

कि हरसै मनमा

और कवि सुरेन्द्र झा परिमल तो इतने हर्षित है कि सावन में फागुन की मस्ती—भाव और भाषा दोनों पर चढ़ गई है,

नाचै मोर, पपीहा पिहकै
झिंगुर के शहनाई/मेढ़क टर्र-टर्र
झिंगुर झन-झन, राग भरे पुरबाई
तराना भावन के, महीना सावन के ।

लेकिन जो भी कहिए, आखिर में यह तो कहना ही पड़ेगा कि पावस की फुहार नायक में चाहे जितना भी तराना भरे, पावस जितनी भी सुहानी लगे, विरहिणी नायिका के लिए तो यह पावस प्राणघाती ही है, तभी तो 'ऋतुरंग' की नायिका शिकायत करती है,

सरगद करै छै ते जारबो करै छै
हेनो ई पावस पर बज्जड़ खसै

पिया से अलग ऐसी नायिकाओं से भर भादो तक पावस उलाहना सुनती रहती है, चाहे लोकगीत की नायिकाओं से या दिनेश तपन की कविता की ही नायिका से,

भादो मास अन्हरिया गुजगुज
बेकल मन में होय छै उजबुज
करवट फेरी रात तेँ काटलौं
केन्हौं नै कटै आबेँ भोर हे

और अगर भादो तक भी पिया आ गये तो 'पछिया पुकारै छै' की नायिका पावस की प्रशंसा के बहाने अपने मन की बात कह कर ही रहेगी,

देखोँ की रं मेघ उमड़ै छै रहि रहि बिजुली चमकै छै
खुल्ला धरती रोँ छाती पर की रं पुरवां जोँर करै छै

तब तो फिर चन्द्रप्रकाश जगप्रिय भी यही कहेंगे,

पावस रानी/बिजुली के हंसुली/पिहुनी नाचै

भले ही अमरेन्द्र दुनिया भर से इस बारिश के खिलाफ, अगली बारिश तक यह शिकायत करता फिरे कि,

हमने समझा था इस बरसात में बरसेगी शराब
आई बरसात तो बरसात ने दिल तोड़ दिया ।

('दैनिक जागरण' भागलपुर, १२ जुलाई २००५)

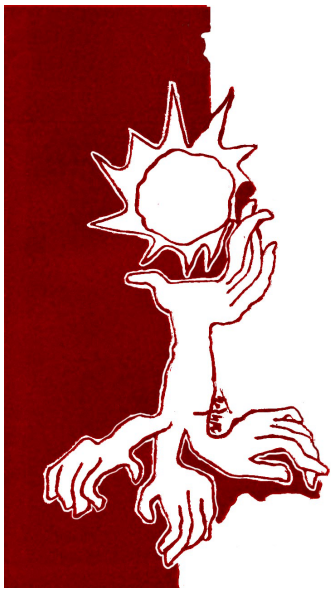

ढाई आखर का यह जो प्रेम है

महाकवि सुमन सूरो के इस कथन, कि प्रेम वह शाश्वत भाव है जो जन्म के अभिघात से ही प्रारम्भ होता है और सृष्टि के प्रारम्भिक काल से ही यह एकरस प्रवाहित होता चला आया है, का समर्थन आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी एक मत से किया है ।

महाकवि सुमन सूरो ने जिसे प्रेम भाव कहा है, वह 'लिविडो' ही है और भारतीय साहित्य की शास्त्रीय भाषा में 'काम' । 'काम' का अभिप्राय भारतीय भाषा में शारीरिक संयोग ही है और इसे सृष्टि-विकास का उत्स मानने के कारण चार पुरुषार्थ के अन्तिम के पूर्व में रखा गया है। 'काम' की अपराजेय शक्ति को स्वीकार करते हुए इसे मोक्ष के समकक्ष दर्जा प्रदान किया है । अग्नि पुराण में तो इसका स्पष्ट उल्लेख है कि परमब्रह्म के 'अहंकार' से ममता और ममता के रूपान्तरण से शृंगार रस की उत्पत्ति हुई है । इस दृष्टि से शृंगार रस-परम्परा का आदि रस है और शृंगार रस का आधार भाव 'रति' (काम) ही है ।

आधुनिक समय में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड के उदय से काम-चिन्ता का पुनः अहिल्या-उद्धार हुआ । इन्होंने ही प्रथम बहुभुजाओं वाले 'काम' के सर्वलिंगवाद की स्थापना की । और इस तरह भारतीय आचार्यों ने रसों में जिस रत्याश्रित शृंगार को रस-राज माना था, वह पुनर्विश्लेषण का केन्द्र बना । लोगों ने यह जाना कि 'काम' पर चाम पहनाने का अर्थ मानसिक उपद्रवों का शिकार बनने का पुर्वाभ्यास है ।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ऑटो रैक ने तो संभोगेच्छा को माता से पुनः संयोग का अतिभव्य प्रतिस्थापित रूप भर स्वीकार किया और यह स्वीकार किया है कि संभोगेच्छा व्यक्ति द्वारा माँ के गर्भाशय में पुनः प्रवेश करने की अथवा इस प्रक्रिया की प्रतीकात्मक प्राप्ति की आदिम इच्छा की आंशिक पूर्त्ति है । इस तरह 'काम' पर पड़े हुए रहस्य और घृणा का पुराना कंथा स्वयं फट-चिट कर बिखर गया ।

लेकिन प्रेम 'काम' नहीं है । काम पर आधारित होते हुए भी यह उध्र्वमुखी दिशा का होता है । इसी से यह कामाध्यात्म है । भारतीय आचार्यों ने काम को उसकी मूल सतह से ऊपर उठाकर उसकी शक्ति के स्वरूप का इतना अधिक परिष्करण कर के साहित्य में स्थापित किया है कि वह ब्रह्मानन्द-सहोदर हो उठा है ।

अंगिका साहित्य में प्रेम की अभिव्यकित्त के कई रंग हैं और वह चाहे इस

भाषा का लोककाव्य हो या फिर कलाकाव्य, दोनों ही जगहों पर ये रंग मिलते हैं ।

यह प्रेम का वेग भी अजीब है, जो न तो अभिव्यक्ति के बंधन को मानता है, न तो लाज के घूंघट को, तभी तो एक बेटी अपने पिता से यह भी कह पाती है,

बाबा हो, कथी लें रे बढ़ैलियै
लांबी-लांबी केशिया
कथी लें जबनियो भेलियै की
बाबा हो, जेही बटिया
पियबा गेलै मधुबनमा
सेहो बटिया बतैय्ये देहो की ।

और बेटी ही जब प्रेम से उन्मादित हो ऐसा कथन करे, तब एक नायिका अपने नायक से हालत बताती हुई अगर यह पूछ ही लेती है तो, अस्वाभाविक ही क्या,

टीका गिरै झनक से हे बालम
टिकुली गिरै पसीना
जरा सूरत पे गिरै नगीना हे बालम
ऐभौ कोनी महीना ।

फिर भी स्त्री की प्रेमाभिव्यक्ति में एक संकोच, एक लज्जा का भाव तो जरूर मिलता है, इसी कारण वह अपने प्रेम को चाँदनी रात में खेलने के बहाने, व्यक्त करती है,

चाँदनी रात पिया हे
वड़ी निरमोहिया खेलै देहौ
पिया रे आज के रतिया
खेलै रे देहौ

वहाँ पुरुष तो बंधन को तोड़ने पर ही उतारू दिखता है । पति तो खैर,

सुतली जे छेलां हे
हम्में बाबा ओहरिया रे
गेंदबा फेंकी जगाबै लाल

लेकिन दूसरा वर देवर तो अपने वर से भी दो कदम आगे बढ़ा हुआ है,

कंगनमा पहरि हम हे
सुतलां ऐंगनमा,
देबरवा पापी छुवै छै रे जोवनमा

यह सिर्फ देवर की ही बात नहीं, गाँव के मुखिया-सरपंच की भी यही बात

है,

पानी भरे गेलौं हम्में
मुखिया जी के इनरबा
कि सेहो मुखिया देखी रे
कनखी चलाबै ।

बात मुखिया-सरपंच तक होती तो होती, यहाँ तो,

घोड़बा उड़ैनें आबै
राजा रे जंगलबा से
असकरी देखी खीचै अंचरा रे ना

अंगिका साहित्य में प्रेम के ये लोलुप दृश्य भरे पड़े हैं, लेकिन अंगिका की प्रिय कवयित्री सान्त्वना साह प्रेम के इस लौलुप रंग को आवारा शृंगार कहती हैं । पिछले ही वर्ष एक मुलाकात में उन्होंने मुझसे कहा था, ''प्रेम की कोई अभिव्यक्ति अपने आप में कलुष हो ही नहीं सकती । और प्रेम-दिवस जिस व्यक्ति की स्मृति में आयोजित होता है, वह तो संत थे । संत की क्रियाएं निर्मल मन की अभिव्यक्तियाँ होती हैं । वसन्त के मौसम में गुलाब को भेंट में देना-लेना खिले मन से प्रकृति के प्रति आकर्षित होना और आकर्षित होने देने का निमंत्रण देना है ।'' शायद इसी कारण कवयित्री सान्त्वना ने अपनी प्रेम-कविताओं को 'गुलमोहर' ही कहा है ।

('दैनिक जागरण' भागलपुर, १४ फरवरी २००६)

पनमा दुकनमा पर मचलै फगुनमा

अंगधात्री ताम्बुल की गद्दी पर बैठे कवि बेचारा बड़े मन से बीड़ा लगा रहे थे और आलोचक योगेन्द्र परेशान । और कोई ग्राहक भी तो नहीं, फिर यह गीत कौन गुनगुना रहा है ? रहा न गया तो उन्होंने पूछ ही लिया । बेचारा जी ने पलक मारते रहस्य को जानते कहा—''घबराइये नहीं, अभी-अभी कवि दिनेश तपन दुकान की बगल में पीक थूक गये हैं, यह गीत उसी से उठ रहा है ।''

''तो आप कवियों को समझाते नहीं ?'' सुनते ही बेचारा जी उखड़े और कहने लगे—''क्यों रोकूँ ? कवियों की स्वतंत्रता पर मैं कौन होता हूँ रोक लगाने वाला । जब आप आलोचक लोग, जिस रचना को जब चाहे, उठा-पटक सकते हैं, तो कवियों को इतनी भी छूट नहीं, कि वे जहाँ चाहें—पीकें । कविता, गजल, हायकू सभी पर भी ।''

बात बढ़ती कि तभी गाढ़े लाल रंग की फुहार, दुकान के सटे बिना तार वाले बिजली खंभे को जड़ को लाल कर गई । कवि-सम्मेलन में भाग लेने श्यामलाल आनन्द तेजी से भागे जा रहे हैं और पीछे बैठे राजकुमार ने, शायद बेचारा जी से कुछ कहने के लिए ही, पीक मुँह से फेंकी थी । पीक तो निकली, बोल न निकल सके और स्कूटर निकल गया ।

वह तो शुक्र कहिए कि पीछे से आ रहे रिक्से पर सवार खादी के उजले कुर्ते-पजामे में रामावतार राही साफ-साफ बच गये, जिनपर किसी की नजरें न गई थीं । दरअस्ल पान की पीक को लेकर साथ-साथ आये आलोचक बहादुर मिश्र, योगेन्द्र और डॉ. सामबे आपस में उलझ चुके थे । डॉ. योगेन्द्र इसे मूल्यहीन सामन्ती संस्कृति का जीता-जागता उदाहरण बता रहे थे, जबकि डॉ. बहादुर इसे रस-भाव से उत्पन्न अनुभाव ही मानने पर तुले थे । इसके विपरीत डॉ. सामबे वेग से फेंकी गई पीक को फ्रायड के सूत्र से समझाने पर बल दे रहे थे, जिसे दोनों आलोचक एकदम मानने को तैयार नहीं थे ।

दुकान के ही एक कोने में सुकड़ुयाये-से बैठे दोहाकार अंजनी कुमार शर्मा से बेचारा जी ने पूछा कि आखिर बहादुर जी के कहने का अर्थ क्या है ? तो शर्मा जी ने मुर्झाये चेहरे से कहा—सखी, की पूछसि अनुभव मोय ।

दोनों यह भी समझने लगे थे कि बहस अब बहसी हो रही थी, लेकिन उन्हें रोका भी तो नहीं जा सकता था । सोचा, कितनी देर बोलेंगे—दोनों ही पैंतालिस मिनट आते-आते अपने आप चुप हो जायेंगे । हुआ भी यही, लेकिन इधर राही जी का रिक्शेवाले से उलझाव तो रुक ही नहीं रहा था । राही जी दस रूपये से अधि

ाक भाड़ा देने को तैयार नहीं थे और रिक्शावाला कहे जा रहा था—''अब दूरी पर भाड़ा गया, सवारी के भार के हिसाब से सवारी से भाड़ा लेता हूँ । मैंने सीट के नीचे माप-यंत्र फिट कर दिया है । आप का वजन पचास किलो है, चुपचाप पचास टका दीजिये ।'' यह तो गनीमत समझिए कि तभी कहीं से कविराज शिव कुमार शिव आ गये और उनके तेवर को देखकर रिक्शावाला होश में आ गया । कुछ बुदबुदाया और बिना भाड़ा लिए ही बढ़ गया ।

''अरे जायसवाल जी, आपकी यह हालत ।'' अचानक ही सबका ध्यान शिव के ही साथ आये कथाकर पी. एन. जायसवाल पर गया, जो फटे-चिटे कुर्ते में बिल्कुल मजनू लग रहे थे । गुस्साते हुए जायसवाल ने कहा—''मुन्दीचक से आ रहा हूँ, यह इसका सबूत है । ठीक कहा गया है—धर्म अफीम है, अफीम ।''

''ठीक्के कहलौ जायसवाल जी, हमरोॅ मुहल्ला के धर्मू अफीमची भी यहेॅ बोलै छै ।'' दुकान की टटिया के पीछे उकडू बैठे मधुलक्ष्मी ने कहा, जो अधवयसू होने के बावजूद शृंगार की कविता रचने में इन दिनों व्यस्त रह रहे हैं । जायसवाल जी ने समझ लिया, मुहल्ले का नाम लेकर उसने अच्छा नहीं किया है ।

शाम के सात बज रहे है । अब तक बेचारा जी की दुकान साहित्यकारों की दुकान बन गई है । अपनी दुकान बढ़ाकर कथाकर रंजन भी वहीं आ गये हैं । कवियों के मुँह से निकली पीकों की छीटें जगह-जगह बिखरे पलाश-सी लग रही हैं । ठहाके मारते हुए रंजन ने कहा—''यह पान की दुकान है या 'मैं चम्पा हूँ' का चित्रशाला कलर लैब ।'' इस बात पर सभी हँस पड़े थे, लेकिन रंजन के साथ आये चित्रकार नागेश गंभीर ही बने रहे । उनकी आँखें पीक की संरचना पर गड़ी हुई थीं और फिर उसी गंभीरता में कहा—''इसमें पेन्टिंग के पैच वर्क का अद्‌भुत नमूना उपस्थित है । इसके कुछ फोटोग्राफ्स लेकर मॉर्डन पेंटिंग की इन्टरनेशनल आर्ट-प्रदर्शनी में भेजा जा सकता है ।''

नागेश की बातों से सभी की नजरें पीक पर गयीं । और उसी समय आ गये कविवर राम शर्मा 'अनल', अश्विनी, प्रसून ठाकुर, सोहन चौबे, त्रिलोकी नाथ दिवाकर, अरुण मिश्र । सब-के-सब हतप्रभ । अरे, उस पीक से तो गीत निकल रहा है, गीत भी जोगीरा,

हिरिया के बेटी किरिया बैठल दुकान पर
गला में शोभै शिकरी मोती छै कान पर
एक नजर जे चल गेलै पनमा दुकान पर
बेचारा कवि मरी गेलै किरिया के जान पर । कि सारा-रा-रा ।

('दैनिक जागरण' भागलपुर, १४ मार्च २००६)

अंग पर भी जमे थे यायावर राहुल के चरण

शायद पुरानी अंगिका के सिद्ध-साहित्य और हिन्दी के आदिकाल का इतिहास अनलिखा ही रह जाता, अगर महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी अथक साधना से साहित्य को यह अक्षयकोश न दिया होता । शांतिनिकेतन में बाबा राहुल के साथ बिताये लम्बे समय को याद करते हुए मंदार विद्यापीठ, बौंसी के वयोवृद्ध साहित्यकार प्रो. कृष्ण किंकर सिंह बताते हैं कि जब एक बार मैंने उनसे पूछा कि आपने इतने विषयों पर इतने निबंध और पुस्तकें लिखी हैं कि मैं समझ नहीं पाता हूँ कि ज्ञान और विद्वता का कितना अक्षय और विपुल भंडार आपने अपने में समेट रखा है । आपका अधिकतर समय तो घुमक्कड़ी करने में बीता जान पड़ता है; फिर आपको इतने विषयों पर इतना अध्ययन-मनन करने का अवसर कहाँ और कैसे प्राप्त हुआ ? मेरी बात सुनकर राहुल जी हँस पड़े थे और निरभिमान मुद्रा में एकदम अकपट तथा अकृत्रिम भाव से मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए उन्होंने कहा था, ''क्या आपलोग समझते हैं कि मैं महापंडित हूँ ? अरे भाई, नहीं हूँ—नहीं हूँ । यों मैं अक्सर पत्र-पत्रिकाओं में अपने नाम के आगे 'महापंडित' का विरुद छपा पाता हूँ तो लज्जा से मेरा सिर झुक जाता है । मैं अपनी खामियों से परिचित हूँ ।''

यह तब की बात है जब कृष्ण किंकर जी शांतिनिकेतन के हिन्दी भवन में थे और हजारी प्रसाद द्विवेदी भी वहीं हिन्दी-भवन के अध्यक्ष थे, राहुल जी तभी शांतिनिकेतन पहुँचे थे—ढेर सारी सामग्रियों को लेकर—हिन्दी-ग्रन्थ निर्माण के लिए । किंकर जी जब राहुल बाबा के संस्मरण में डूबते हैं तो डूबते चले जाते हैं, ''सुबह चार बजे से छः बजे तक राहुल जी टहलते थे, शाम पाँच से छः बजे तक अपनी कोठरी में ही चाय पीते । इसी बीच हमलोग मिल पाते थे, द्विवेदी जी तक, अन्यथा राहुल जी अपनी कोठरी में बंद ही रहते । स्वयं तो लिखते नहीं थे, उनके लिए एक लिपिक की व्यवस्था थी, जो उनकी बातों को लिखते जाते थे । रविवार के दिन ही हमलोग बहुत-सी बातें कर पाते थे, क्योंकि वह छुट्टी का दिन होता । बात-बात में राहुल जी मुझसे कह बैठते—किंकर, तुम तो सिद्ध कवि सरहपाद की भूमि के हो, बड़े बड़भागी हो ।''

राहुल जी अपने को महापंडित भले ही न स्वीकारते थे, लेकिन पूरा साहित्य-संसार उन्हें महापंडित ही स्वीकार करता है और उनके महापंडित होने का कारण उनकी घुमक्कड़ी पर आधारित उनका असाधारण ज्ञान था । समालोचक डॉ. तपेश्वर नाथ बताते हैं, ''राहुल जी तब तक लिखते नहीं थे, जब तक उससे

संबंधित उनके हाथ सामग्री न लग जाय । और अपनी इसी प्रकृति के कारण वह भागलपुर भी आये । बौद्ध साहित्य के सिलसिले में विक्रमशिला विश्वविद्यालय के स्थल-अन्वेषण के सिलसिले में । उनका अनुमान था कि प्राचीन विक्रमशिला विश्वविद्यालय सुल्तानगंज से लेकर पथरघट्टा तक के बीच ही कहीं-न-कहीं अवस्थित होगा । राहुल बाबा ने अपने इसी विश्वास के आधार पर सुल्तानगंज से लेकर कहलगाँव के पथरघट्टा अंचल तक पैदल यात्रा की थी ।'' सुल्तानगंज के ही साहित्यकार सुधीर कुमार सिंह के अनुसार सुल्तानगंज में राहुल जी से सम्बन्धित अधिकांश स्मृतियाँ विक्रमशिला के खंडहर की तरह दबी पड़ी हैं । स्मरण रहे कि उस समय सुल्तानगंज से निकलने वाली प्रमुख पत्रिका 'गंगा' में राहुल जी का सिद्धों के चित्र सहित सिद्ध साहित्य पर आलेख प्रकाशित हुआ था, जो अंगिका और हिन्दी का आज आदिसाहित्य बन गया है । यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि 'गंगा' पत्रिका के सम्पादन निदेशक का दायित्व भी राहुल जी को दिया गया था और इस दायित्व को उन्होंने स्वीकार भी किया था । राहुल जी के निदेशन में 'गंगा' का प्रकाशन आज भी पत्रकारिता के आदर्श का उदाहरण बना हुआ है ।

गुरुवर डॉ. तपेश्वरनाथ मुझसे कहते हैं, ''मुझे तो आश्चर्य होता है कि जिस राहुल बाबा के कारण अंग की संस्कृति और साहित्य विश्वव्यापी हो सका, आज न तो अंग राहुल जी के लिए कुछ सोच रहा है, न उनकी खोज की विक्रमशिला के लिए । नालन्दा विश्वविद्यालय बौद्ध सर्किट से जुड़ गया और चौरासी सिद्धों का विक्रमशिला विश्वविद्यालय अंग के राजनेताओं की राजनीति में और भी रुँद गया है ।'' पुनः राहुल बाबा की स्मृति में डूबते हुए वे कहते हैं, ''मैंने राहुल जी को १९५६ में लंगट सिंह कॉलेज में देखा था । खादी कुर्त्ता, खादी पाजामा में छः फीट का वह अद्‌भुत तेजदीप्त व्यक्तित्व । पाँव में एक साधारण-सी चप्पल । सचमुच अद्‌भुत व्यक्तित्व थे वे । तिब्बत से खच्चर पर लादकर लाये थे विक्रमशिला बौद्धविहार के साहित्य को, जिसे बिहार सरकार ने एक लाख में खरीदना चाहा था । लेकिन राहुल जी ने लाख रूपये न स्वीकार कर उन कीमती सामग्री को पटना विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग को भेंट में सौंप दिया । पता नहीं अपनी पीठ और खच्चर पर जिस अंग की संस्कृति को राहुल जी ने लादकर लाया था, वह मगध के पुरातत्व विभाग में सुरक्षित है भी या नहीं, है भी तो किस हाल में !''

और मेरी आँखों के समक्ष प्रश्न और शंका का बैताल खड़ा हो जाता है, नगर विकास मंत्री के नगर का प्राचीन विक्रमशिला बौद्धविहार क्या अपनी गौरव गाथा को कह सकेगा, जिस गाथा को कभी राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत से सुनी

थी और उसे देखने हजारों मील तय करते अंग के विक्रम बौद्धविहार तक आ गये थे, बिना थके, बिना रुके ?

('दैनिक जागरण' भागलपुर, ११ अप्रैल २००६)

कहाँ से कहाँ तक व्याप्त था 'अंग' का राढ़ प्रदेश

प्राङ्मौर्य बिहार 'इतिहास ग्रंथ' में अंगप्रदेश के भूगोल पर विचार करते हुए डॉ. देव सहाय त्रिवेद ने लिखा है कि कलिंग भी अंग राज्य में सम्मिलित था । तंत्र अंग की सीमा एक शिव मंदिर से दूसरे शिव मंदिर तक बतलाता है । अंगप्रदेश में मानभूमि, वीरभूमि, मुर्शिदाबाद और संताल परगना सभी इलाके सम्मिलित थे ।

अंग के ये ही दक्षिणांश और पूर्वांश 'राढ़' प्रदेश के नाम से भी विश्व इतिहास में प्रसिद्ध हैं । यहाँ यह सवाल स्वतः उठ खड़ा होता है कि 'अंग' के नाम मालिनी, चम्पा आदि तो मिलते हैं, लेकिन 'राढ़' नहीं, फिर उस प्रदेश को यह नाम किससे मिला ? मध्य ऋग्वेद काल के पूर्व ही जब अंग की स्थापना हुई थी, तब भी यह अंग देश ही कहाता था । इतिहासकार राधा कृष्ण चौधरी के इतिहास ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ बिहार' से भी तो यही ज्ञात होता है ।

गवेषणओं में जाएँ तो ज्ञात होगा कि यह 'राढ़' नाम इसे विश्वइतिहास से मिला । 'राढ़' प्रदेश यानी लाल मिट्टी का देश । आष्ट्रिक शब्द है यह राढ़—जिसका अर्थ ही होता है रक्त मृतिका ।

यह करोड़ों-करोड़ वर्ष पहले की बात है, तब तो हिमालय का भी जन्म नहीं हुआ था, हिमालय तो करोड़ों वर्ष बाद जन्मा । इस हिमालय से कोटियों वर्ष पहले जनम चुकी थीं अंग प्रदेश की पर्वत शृंखलाएँ । तब ये शृंखलाएँ बर्फ की घनी चादरों से ढकी रहती थीं । गर्मी की उष्णता पाकर धीरे-धीरे ये बर्फ की चादरें पिघलने लगीं । अंगप्रदेश पर महाप्रलय के दृश्य उपस्थित हो गये । एक बार नहीं, कई-कई बार । एक मनु को ही नहीं, कई मनुओं को सृष्टि बचानी पड़ी । और जब महाप्रलय के युग का अन्त हुआ, तब यह अंग वनस्पतियों और जीवों से भरने लगा । बड़े-बड़े ऐरावतों को विकास हुआ । मंदार-मंथन में ऐरावत का मिलना इतिहास की कथा है—कल्पना नहीं । महर्षि प्रभातरंजन सरकार ने लिखा है कि राढ़भूमि में मनुष्य का उद्‌भव अति प्राचीन काल में हुआ, इससे प्राचीनतर मनुष्य विकास का कोई सन्धान नहीं पाया जाता है । और इस कथन की सत्यता जाहिर करती हैं अंग के वीरभूम यानी दुमका, राजमहल के मंदार पहाड़ी अंचलों में बिखरे करोड़ों वर्ष प्राचीन जीवाश्मों की शृंखलाएँ ।

अंगप्रदेश पर हिमयुग की समाप्ति और प्राकृतिक आपदाओं के कारण इसकी जब कोटियों वर्ष की प्राचीन पर्वत शृंखलाएँ विशाल नदियों के प्रवाह में लाल मिट्टी के रूप में चूर-चूर होकर बिखरने लगी तो उस समय का अंग लाल मिट्टी की चादर से बिछ गया । इस रक्त मृतिका पर नये मानव ने जन्म लिया, एक नई

सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ, और लाखों-लाख वर्ष बाद जिससे जुड़ने के लिए विश्व के कोने-कोने के लोग आए—चीन से, यूनान से, ईरान से—सभी जगहों से । और जब देखा अंग की प्राकृतिक सुषमा तथा मानवीय सभ्यता और संस्कृति को तो मुग्ध हो उठे और उन्हीं आर्यों, चीनियों, यूनानियों ने उसे नाम दिया 'राढ़' यानी रक्त मृतिका का देश ।

'राढ़' तो वस्तुतः आर्यों के शब्द 'राट्ट' का ही परीवर्तित नाम लगता है, वैसे यह चीनियों के 'लाटि' या यूनानियों के 'रिडि' शब्द का भी अपभ्रंश हो सकता है । जो भी हो, 'राढ़' का भूगोल भी वही है, जो भूगोल डॉ. त्रिवेद ने अंगप्रदेश का बताया है । इससे यह तो स्पष्ट ही है कि जो विद्वान राढ़ की सीमा को बंगाल के समतल और बंगला देश की सीमा में दिखाने का श्रम करते हैं, वे इतिहास विरुद्ध है । वर्षों बाद हिमालय की दुहिता गंगा और तनय ब्रह्मपुत्र के बालू-मिट्टी से मिलकर तैयार हुए हैं बंग और ढाका । तब 'राढ़' के कर्मयोगियों ने वहाँ के जंगलों को काट कर बस्तियाँ बसाई थीं ।

अगर ऐसा हुआ था तो आश्चर्य ही क्या ? इस राढ़ के इन्हीं प्रकृति पुत्रों ने, जिन्होंने महाप्रलयों के रौद्र को झेला था, आर्यों के आगमन के बहुत बाद तक समुद्र की भीषण तरंगों को पार करते विदेशों में अपना उपनिवेश कायम किया था । बंगाल में जो ब्राह्मण और कायस्थ राढ़ी बान्धव कह कर निज का परिचय देते हैं, उनका वंशगत संबंध इसी 'राढ़ प्रदेश' से है, जिसे वेद, रामायण और महाभारत अंग देश के नाम से जानता है । 'संस्कृति के चार अध्याय' में रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि हिन्द-चीन में समुद्र के किनारे चम्पा राज्य की स्थापना द्वितीय शती में हुई । इन सभी द्वीपों का नाम अंगद्वीप थी । कम्बोडिया की संस्कृति इसी अंगप्रदेश की राढ़ संस्कृति है ।

'राढ़' महाभारतकालीन 'अंग' का भूगोल नहीं है, बल्कि वह भूखंड है, जहाँ भारत की सभ्यता और संस्कृति ने ही पहले-पहल जन्म नहीं लिया था, बल्कि यहाँ के प्रथम मानव ने भी । अंग के इस 'राढ़' क्षेत्र का भूगोल वीरभूम, गोपभूम, सामन्तभूम, शिखरभूम, मल्लभूम, सेनभूम, मानभूम, वराडभूम, सिंहभूम, धवलभूम, शबरभूम, मंजभूम के साथ सप्तसती और भूरिश्रेष्ठ का संयुक्त क्षेत्र हैं । सप्तसती वर्द्धमान और हुगली जिला के पूर्वांश का योग है, जबकि भूमिश्रेष्ठ वर्द्धमान के दक्षिणांश और हुगली के पश्चिमांश का योग । यहाँ यह बता देना अनावश्यक नहीं होगा कि महाभारत के बली कर्ण का अन्तिम किला राढ़ के दक्षिणांश मिदनापुर के झाला बाड़ी पर ही स्थित था, जो कर्ण सुवर्ण के नाम से विख्यात था, इसपर विस्तार से चर्चा इतिहासकार ज्योतिषचन्द्र शर्मा ने अपने इतिहास ग्रन्थ 'कर्णगढ़' में किया

है ।

वृहत्तरअंग की रक्तमृतिका के 'भूम' (भूमि-स्थान) का सांस्कृतिक महत्व इसकी अतिप्राचीन सभ्यता से कहीं अधिक है । अंग के इसी भूखंड में महान दार्शनिक और महर्षि कपिल के साथ योगर्षि पातंजलि का जन्म हुआ था, तो लाल मिट्टी के कहलगाँव में महर्षि परशुराम और अष्टावक्र का जन्म भी । प्रकृति के रौद्र रूप ने अगर राढ़वासी को विक्षुब्ध किया तो जगत के रहस्य को जानने के लिए उसे दार्शनिक भी बना दिया । सच तो यह है कि अंग के राढ़ भूखंड को वीरभूम, मानभूम और सिंहभूम तक केन्द्रित करना ही गलत है । लाल मिट्टी का अंग क्षेत्र तो नेपाल की तराई से ही प्रारम्भ हो जाता है, जहाँ से अंग की सीमा प्रारम्भ होती है । उत्तरी अंग जो ऋषिशृंग की जन्मभूमि रहा, वह भले ही हिमालय से निकलनेवाली कोशी और गंगा से लाल न दिखे लेकिन इसका भी ऊपरी भूगोल रक्त मृतिका की नींव पर ही खड़ा है ।

इसी भूखंड में वनराज सिंह ने पहली बार अपनी आँखें खोली । महर्षि सरकार का कहना है कि सिंह कहीं बाहर से नहीं आये, यह राढ़ की अपनी सन्तान है । शायद इसी कारण यह राढ़ प्रदेश कभी 'सिंहल' भी कहलाता था । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 'नाथ सम्प्रदाय' में लिखते हैं कि सिंहल हिमालय की तलहटी में कहीं होगा, यह आधुनिक लंका का नाम नहीं होगा । इसमें आश्चर्य करना व्यर्थ है कि योगी भर्तृहरि का संबंध इसी सिंहल प्रदेश से था । कहलगाँव के एक क्षेत्र का नाम अब भी सिंहलवैता है ।

यहीं यह भी विचारणीय है कि रक्तमृतिका के देश 'राढ़' के प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव क्यों फैला । यह इतिहास प्रसिद्ध बात है कि वर्णाश्रम पर आधारित आर्यसंस्कृति अंग में तब फल-फूल रहे व्रात्यधर्म से मेल नहीं खाती थी, जो जाति पर अवस्थित होते हुए भी जातिविहीन समाज पर आधारित था । आर्य के द्वारा अंग को हेय समझने के उल्लेख तो हैं ही, इसका भी उल्लेख मिलता है कि राढ़वासी आर्यों से विरोध के कारण उनके पीछे सिंह को सियार को लगा देते हैं । यह आश्चर्य की बात नहीं कि आर्य संस्कृति के यहाँ जम जाने पर दोनों के बीच संस्कृति समन्वय का सिलसिला तो चला, लेकिन 'राढ़' क्षेत्र के प्रति घृणा का भाव जो उनमें था, वह कालान्तर में भारतीय समाज का ही अंग बन गया । और यह भी बहुत विश्वसनीय लगता है कि संस्कृति समन्वय के उस काल में 'राढ़' के बुद्धिजीवियों ने अपनी पृथकता और श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए अपनी जाति के आगे 'राढ़ी' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ किया, ताकि उनकी भूमि और वंश के चिन्ह शेष न हों ।

आज 'अंग' के 'राढ़' क्षेत्र का भूगोल कुछ गड्डमड्ड अवश्य हो गया है,

लेकिन इतिहास और संस्कृति इसे आज भी बिखरने से बचाए हुई है । संताल परगना के देवघर और दुमका का गोपभूम 'गीत गोविन्दम' के रचयिता जयदेव की जन्मभूमि रहा है, जहाँ की रक्तमृतिका पर बैठ कर इन्होंने गीतगोविन्द के छन्द रचे थे । और अनुमान से महाकवि कालिदास की जन्मभूमि चाहे जहाँ दिखा दिया जाए, लेकिन महर्षि प्रभात रंजन सरकार के मतानुसार कालिदास दक्षिणी राढ़ के कांथी अंचल के बाशिन्दा थे । इनके अनुसार कालिदास ने जिस समुद्र उपकूल का वर्णन किया है, वह हू-ब-हू कांथी के समुद्र उपकूल का है । यदि वे पर्वताकीर्ण उपकूल के रहनेवाले होते तो उनका यह वर्णन ऐसा जीवन्त नहीं होता ।

'कथासरित सागर' में भी इसका उल्लेख आया है कि अंगप्रदेश का एक प्रसिद्ध नगर समुद्र के किनारे 'विटंकपुर' था । भारत का प्राचीन इतिहास तो कहता ही है, अंगदेश बंगोपसागर तक व्याप्त था, जो प्रदेश आर्यों के शब्दकोष में राढ़ नाम से चिन्हित है ।

('हिन्दुस्तान' भागलपुर, २६ अप्रैल २००७)

पहाड़ की जिन्दगी, पहाड़-सी जिन्दगी

हरिद्वार से ऋषिकेश का सड़क मार्ग । हिमालय की शृंखला दिखने लगी है । अभी-अभी, कुछ देर पहले, बारिश होकर थम गई है । जोरों की बारिश नहीं थी । हमलोग की कार हवा की गिरफ्त में, भरे गुब्बबारे की तरह, सड़क पर ससरती जा रही है । ड्रायवर की बगलवाली सीट पर बैठे रंजन ऋषिकेश के बारे में बहुत कुछ बताना चाह रहे हैं, और पीछे की सीट पर प्रार्थनारत शिव और पवन के बीच में अटा मैं पहाड़ को पहचानने की कोशिश कर रहा हूँ ।

हाँ, पहचानने की कोशिश ही कर रहा हूँ, क्योंकि अब उस पर नगर बसते जाने के कारण उसकी पहचान खोती जा रही है । एक नई दिल्ली बस गई है पर्वत पर । मन में मेरे ढेर सारे सवाल, सामने चोटियों पर फैले बादलों की तरह, उठ खड़े हुए हैं । आखिर इस तरह पर्वत पर बस्तियाँ बसतीं रहीं तो क्या होगा देश भर के पर्वतों का ? बस्तियों के इस तरह बसते जाने से तो जंगल के जंगल उजड़ते जा रहे हैं । वैसी वीरानी-सी मुझे वहाँ दिखी राह में दूर-दूर तक, तो सोचने लगा—क्या यही हमारा हिमालय है ? भादो के घने बादलों के जैसे वनों से आच्छादित रहनेवाला ? यह तो हमारे अंगप्रदेश के पहाड़ों जैसा ही होने लगा है । समझ में आने लगी सारी बातें कि क्यों गंगा, कोशी के जलप्रवाह वर्षा के मौसम में हाहाकार मचा देते हैं । जब पर्वतों पर वन ही नहीं होंगे तो वर्षा का जल ठहरेगा कहाँ ? तब वहाँ सघन वन होते थे तो वर्षा को सोख लेते थे ये । भव्य-भव्य बस्तियाँ बसने से जंगल की भव्यता ही खत्म हो गई है । फिर कहाँ से सोखेंगे पहाड़ वर्षा के जल को, फिर समय-समय पर इन सोखे हुए जल को छोड़ेंगे, धरती के प्यासे लोगों के लिए ? अब तो वर्षा हुई नहीं कि पहाड़ों के खुले सिर और छाती से होते हुए सीधे नदियों में और नदियों में बाढ़ लाती हुई सीधे समुद्रों में । यही तो हुआ है हमारे मंदार, जमुई, जमालपुर और संताल परगना के पहाड़ों के साथ । कुछ महीनों तक भी नहीं रहता है जल—चानन, चीर, बड़ुआ, या फिर मयूराक्षी, अजय और सुखनिया में । सूख जाते हैं भादो के खत्म होते-न-होते । एक समय था जब चानन और क्यूल की माता पहाड़ियाँ वनों से घिरी रहती थीं ।

वन ही कटे जा रहे हों, ऐसी बात नहीं, बस्तियाँ बसाने के लिए पहाड़ ही काटे जा रहे हैं । सड़क बनाने के लिए पहाड़ों को छाँटा जा रहा है । सड़कों और नगरों के कॉम्पलेक्सों को और भी ऊँचा करने के लिए पहाड़ों को और भी नीचा किया जा रहा है । मेरे कानों में सालों पूर्व जमालपुर के एक लोककवि यदुनन्दन के गीत

की पंक्तियाँ दूर से आने लगती हैं,

छोॅ पैसा के सतुआ खैबै आधा गो पियाज गे
पत्थल तोड़े जैबै भौजी जमालपुर पहाड़ गे ।

मेरी आँखों के सामने जमालपुर का पहाड़ ही नहीं, शाहकुण्ड और जीतनगर के पहाड़ भी घूम जाते हैं । जो इसलिए तोड़े गये हैं, ताकि गाँवों को नगरों से, नगरों को गाँवों से जोड़ा जा सके । और हर साल तोड़े जा रहे हैं, क्योंकि सड़कें हर साल टूट जाती हैं । नहीं टूटेंगी तो ठेकेदारी के टेंडर कैसे उपजेंगे !

और इस तरह पहाड़ों के टूटने से कई-कई और समस्याएँ उभरने लगी हैं ।

उस दिन चिलचिलाती धूप में सूजागंज के लोहापट्टी चौक पर, टूटे-फूटे चबूतरे पर थकी-हारी संतालिन औरतों को बैठे देखा, तो हमारे पाँव ही शिल हो गये । देखा, चिरौते की झाड़ियों के तीन-चार पुलिन्दे बगल में रखे हैं । बढ़ते हुए सोचने लगा, कौन लेगा, इन पहाड़ी औरतों की जंगली जड़ी-बुटियों को । कीमती औषधियों की वनस्पतियाँ तो पर्वतीय वनों के साथ ही लुप्त हो गईं । कभी मंदार की पापहरणी के जल में इन्हीं पहाड़ी औषधियों के कारण यह भी गुण था कि कुष्ठ का रोग भी जल के स्पर्श से दूर हो जाता । अब तो पहाड़ ही सालों के असाध्य रोग से जैसे ग्रसित हैं । खयाल आ गया, दुमका के पहाड़ों पर बसे पहाड़िया लोगों का, जिनकी जिन्दगी का आधार ही पहाड़ है । पहाड़ों और पहाड़ों के जंगल कटने से इनका जीवन कितना दूभर हो गया है । पहाड़ों को अपने मनोनूकूल काँट-छाँट कर शहर के लोग वहाँ बस रहे हैं । कहाँ जायेंगे ये पहाड़ी लोग ? एक समय था, जब पहाड़ों से इनका जीवन चलता था । जलावन से लेकर जल तक का जीवन । पहाड़ों के उजड़ते जाने से कीमती जड़ी-बुटियों का संसार भी उजड़ गया है । बौंसी के पहाड़ भी कट कट बड़े-बड़े बांधों के पेट में अँट गये । कैसा है, मनुष्य का यह सृजन, जो प्रकृति के सृजन को ही ध्वस्त करने में तुला है ।

यह तो धार्मिक लोकविश्वास ही है कि मन्दार पर पत्थर तस्करों की दरांती नहीं चलती । वैष्णव, जैन, नाथ, सबका उपास्य—मंदार । संतालियों के लिए तो मोरांग बुरू यानी शिव ही है मंदार । छोटे को आशीर्वाद भी देते हैं तो यह कहकर कि मंदार बनो । सुना है, तिब्बती कभी हिमालय की चोटियों को नहीं लांघते । देवता मानते हैं इन्हें । देवताओं को भला कैसे लांघे ? अब तो भोगवादी वैज्ञानिक सभ्यता ने लोगों का यह धार्मिक विश्वास भी छीन लिया । पहाड़ काटे जा रहे हैं, पहाड़ों पर बस्तियाँ बस रही हैं । पहाड़ छर्रियाँ और धूल बन कर नदियों में जमा हो रहे हैं । नदियों के पेट ऊँचे होते जा रहे हैं । और उनके बीच खड़े पहाड़ बालू

के पेट में समाए जा रहे हैं । मेरी भयभीत आँखों में ऋषि जह्नु के अजगैवी नाथ धाम की छाया उतर आती है ।

एक तो यूं ही पर्वतों के नीचे प्राकृतिक हलचलों के कारण पहाड़ों का जीवन पस्त है और फिर पहाड़ों पर प्रहार । कभी सोचा भी हमलोगों ने कि सिर्फ गंगा, यमुना, कोशी, झेलम ही नहीं, हमारे अंग प्रदेश की चीर, चानन, मयूराक्षी जैसी नदियाँ भी पहाड़ों से ही निकलती हैं। ये पहाड़ न रहेंगे, तो कहाँ से रहेंगी नदियाँ ? कहाँ से मिलेगा हमारे खेतों को पानी और कहाँ से मिलेगी पानी के लिए बिजली ?

हमारे पहाड़ों पर जिस तरह से खतरे मँडराते चले जा रहे हैं, उससे न केवल पहाड़ी लोगों का, बल्कि मैदानी लोगों का जीवन भी संकट में आ गया है । जब ये पहाड़ नहीं होंगे, तो क्या होगा, बच्चों के उन लोककथाओं वाले राक्षसों का, जो अपने प्राणों को तोता, मैना बनाकर, उजले, काले पहाड़ों की गुफाओं में रखता रहा है ?

ऋषिकेश की पहाड़ी सड़क पर हमलोगों की कार धीरे-धीरे सैलानी की तरह बढ़ने लगी है । रंजन ने कहा, ''एक दशक पूर्व यहाँ ऐसी बस्ती नहीं थी, अब तो खैर.....और उधर देखिए पहाड़ के उस तरफ, विदेशियों की एक बहुत बड़ी बस्ती ही है । जितने विदेशी सैलानी उतरते हैं, प्रायः उधर ही रहते हैं । ऋषिकेश तो पर्यटकों का स्वर्ग है ।''

मुझे खयाल आ जाता है, अंगवासियों ने भी मांगें शुरू कर दी हैं, मंदार को पर्यटनकेन्द्र बनाया जाय, कहलगाँव और जेठौर के पहाड़ों को भी । अगर ऐसा हो गया तो क्या होगा ? पर्वतों को सौन्दर्यीकरण के नाम पर छाँटा जायेगा, बस्तियाँ बसने लगेंगी । अभी ही तो, जब उन पर नये साल के नाम पर लोग उतरते हैं, तब कचरों के अम्बार से महीनों परेशान रहते हैं ये पहाड़ । पर्यटकों के केन्द्र बनेंगे तो फिर क्या होगा ? दौलत की हाही ने आदमी को इतना संवेदनहीन बना दिया है कि करोड़ों वर्षों की विरासत की कीमत भी यह नहीं समझ पा रहे हैं । भाग कर अपने प्राण भी तो नहीं बचा सकते हैं ये पहाड़ । कभी उड़कर बचाते होंगे ये अपने को । चीन के नगर हाङचाऊ में एक छोटा-सा पर्वत है । चीनियों का यही विश्वास है कि यह उड़न पर्वत (फ्लाई ंग माउन्टेन) भारत से उड़ कर आया है । इस उड़न पर्वत के पार्श्व में किसी भारतीय सन्त द्वारा निर्मित एक बौद्ध मंदिर भी है ।

हमारे देश के सभी धार्मिक पंथों के प्राण तो हमारे पहाड़ों में ही बसते हैं, वह चाहे मंदार हो, ज्येष्ठ गौड़ हो, सुल्तानगंज हो, या कहलगाँव की पहाड़ी हो या फिर मुंगेर का काली पहाड़ । वे पार्श्वनाथ से लेकर हिमालय की ऊँची-ऊँची चोटियाँ क्यों न हों । सबों का संबंध या तो वैष्णव से है, या तो शैव से, किसी का

जैन से तो किसी का शक्ति से । पहाड़ों के पस्त होने का अर्थ है, हमारी संस्कृति का भी पस्त होना । हमारा एक छोटा-सा पहाड़ भी अतीत की एक बड़ी सभ्यता और संस्कृति की कथा है । जब हम पहाड़ को काटते हैं, तो अपने ही हाथों अपनी संस्कृति को भी काटते जाते हैं । हमारे ये पहाड़ चाहे वह लक्ष्मीपुर या ककबारा के हों या मंदार और जमालपुर के ही, हमारे स्वाधीनता संग्राम के इतिहास हैं, जिसने हमारे कितने-कितने स्वतंत्रता सेनानियों को अंग्रेज अत्याचार से बचाया है, हमारे ये पहाड़ हमारे देश और राज्यों के किला बन कर रहे हैं । बात हिमालय की छोड़ दें, कभी मगध से ही भयभीत मगधराज अजातशत्रु ने चम्पा को राजधानी इसलिए बनाया था, क्योंकि उसकी रक्षा में जमालपुर का पहाड़ ही किला साबित हुआ था । आज ये पहाड़ अपने ही स्वाधीन देशवासियों के हाथों पस्त हैं ।

ईश्वर न करे, जिस तरह खनिजों को हथियाने के लिए हमारे ही अंचल में पहाड़ों-पठारों को खदानों में निरन्तर बदला जा रहा है और इसके कारण पृथ्वी के गर्भ में जो भारी हलचल जारी है, उससे किसी एक दिन करोड़ों करोड़ वर्ष पुराना हमारा यह मन्दार पर्वत ही न दरक उठे, जैसे रह-रह कर हिमालय की चोटियाँ दरक जाती हैं—वह मंदार पर्वत जो पूरे भारतवासी के संघर्ष और संस्कृति की गाथा है । क्या समझते हैं, धनबाद, झरिया में खानों की अन्धाधुंध खुदाई हमारे पहाड़ों को भी भीतर से नहीं हिला रही है ?

ऋषिकेश पहुँच कर हमारी कार रुक गई है । रंजन जी ने मुझे देखा है । मेरे बगल में बैठे शिव और पवन का, प्रार्थना के गीत का गायन, अब भी जारी है, जो यात्रा के आरम्भ से ही शुरू हुआ था । मेरे दोनों हाथ जुड़ जाते हैं, इस निवेदन में—हे प्रभु, प्रार्थना के गीत हमारे पहाड़ों के बन जाये । हमारे पहाड़, ईश्वर की तरह अजेय अनन्तकाल जीवी बन जाएं । पहाड़ अक्षय हो जाएं ।

('हिन्दुस्तान' भागलपुर, १० मई २००७)

आषाढ़ के साथ इतना अन्याय क्यों ?

महाकवि कालिदास के अमर काव्य 'मेघदूत' की इन पंक्तियों

आषाढ़स्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीड़ा परिणत गजप्रेक्षणीयं ददर्श ।

को छोड़ दें, और अंगिका बारहमासा की इन अमर पंक्तियों को भी,

प्रथम मास आषाढ़ हे सखि
साजि चललै जलधार हे
राजा दशरथ वचन कारण
केकई देल वनवास हे

तो आषाढ़ के लिए न तो शिष्ट और न ही लोक कवियों में वर्णन का वह उत्साह दिखता है, जो सावन और भादो के पावस के लिए मिलता है । यहाँ तक कि महाकवि कालिदास ने मेघदूत में तो आषाढ़ को याद किया है, लेकिन ऋतुओं के काव्य 'ऋतुसंहारम्' में शायद नहीं । 'मेघदूत' में भी आषाढ़ के लिए बस एक ही पंक्ति है और उसके बाद महाकवि सीधे सावन पर उतर गये हैं ।

और बारहमासा में भी आषाढ़ के लिए जिन पंक्तियों का उल्लेख ऊपर है वहाँ भी एक ही पंक्ति आषाढ़ के लिए है, इस बारहमासा के वर्णित शेष महीनों-ऋतुओं के लिए जो दो-दो पंक्तियाँ हैं, उनका एक दूसरे से संबंध भी है—कारण-कार्य का संबंध, लेकिन आषाढ़ के उल्लेख में यह भी नहीं दिखता । वचन देने के कारण राम को वनवास तो मिला, लेकिन वनवास आषाढ़ में ही देना था, इसका उल्लेख कहा है ? मुझे तो लगता है कि तुक भिड़ाने के लिए लोककवियों ने ऐसा कर दिया, भले ही तुम मिले न मिले । कालिदास का विरही यक्ष आषाढ़ के मेघ को देख कर और भी विदग्ध हो गया था, तो आषाढ़ में ही राम को वनवास देकर दशरथ को बिछोह-दुःख से प्रताड़ित दिखा दिया लोककवि ने ।

पूरे भारतीय साहित्य के संबंध में नहीं कह सकता, लेकिन अंगिका भाषा के कवियों के संबंध में लगभग पूरे विश्वास के साथ कहूँगा कि कालिदास ने भले ही एक पंक्ति में, आषाढ़ को जिस महिमा के साथ प्रस्तुत किया, वैसा अंगिका के एक भी कवि न कर सके । अंगिका में प्रकृति के सुविख्यात सारस्वत महाकवि सुमने सूरो भी नहीं, न ही भुवनेश्वर सिंह भुवन, न तेजनारायण कुशवाहा, न अनिरुद्ध प्रसाद विमल और न ही अंगिका के एकदम नये नाम धनंजय मिश्र ने आषाढ़ को वह मान दिया । 'पनसोखा' 'धैरको' 'सवर्णा', 'कागा की संदेश उचारै' सभी काव्यों में सावन

और भादो के मेघ तो हैं, आषाढ़ के मेघ नहीं । हाँ महाकवि की जिम्मेदारी से मुक्त होने के लिए महाकवि सुमन सूरो अपनी कविता 'कालिदास के मेघदूत' में अवश्य एक पंक्ति में आषाढ़ का नाम लेते हैं,

कालिदास के मेघदूत !
कब तक लौटै के बात छै ?

इस एक पंक्ति को कविता में कई बार दुहराया गया है, लेकिन आषाढ़ के बारे में कुछ भी नहीं है । कुछ है तो कृषक बालिकाओं और कृषक के बारे में ।

मुझे तो लगता है कि मेघदूत में आषाढ़ के मेघ को, कालिदास के बाद जयशंकर प्रसाद ने ही अपनी कहानी 'पुरस्कार' में देखा । कैसा उदात्त वर्णन है—सावन और भादो के मेघों को मात देनेवाला आषाढ़ का मेघ ।

गद्य में ऐसे उदाहरण दो एक उदाहरण और मिल जाएँ तो मिल जाएँ, सावन-भाद्र की तरह इसे यहाँ खोजना तो पागलपन ही होगा । प्रसाद ने जिस आद्रा नक्षत्र का वर्णन किया है, वह आषाढ़ के हिस्से में ही आता है । आषाढ़ के इस आद्रा नक्षत्र का कृषि के लिए क्या महत्व है, उसे अगर कविता में किसी कवि ने उतारा तो घोघो के लोक कवि 'घाघ' ने,

आवत दियो न 'आद्रा' जावत दियो न 'हस्त'
तें॑ समझो॑ दोनों गेलै पाहुन आरू गृहस्थ ।

आषाढ़ पर घाघ की कृपा अवश्य कछ ज्यादा रही, तभी तो आषाढ़ के महत्व पर इस कवि ने बहुत कहा है, यह भी,

मास आषाढ़ जे पहुनी करै
ओकरो॑ खेती ठाड़े गिरै ।

जिस कृषक ने आषाढ़ में पहुनाई की, उसकी खेती गई हो समझो और भी,

रोहिणी बरसै मृग तपै, कुछ-कुछ आद्रा जाय
घाघ कहै घाघिन सुनो॑, कुत्ता भात नै खाय ।

आषाढ़ में आद्रा की कृपा हो तो फसल ऐसी अच्छी होती है कि कुत्ते भी भात खाना छोड़ देते हैं, इतने अघा जाते हैं ।

फिर भी आषाढ़ यह नहीं कह सकता कि वह कवियों के आषाढ़-वर्णन से वह अघा गया है । कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता लेख को पढ़कर मैथिलीशरण गुप्त ने उर्मिला 'साकेत' लिख दिया । लेकिन मुझे नहीं लगता है कि अगर किसी आलोचक ने आषाढ़ विषयक उदासीनता लेख लिख दिया होता तो किसी कवि ने आषाढ़ पर साकेत सा महाकाव्य तो क्या, दो फर्मी प्रबन्ध भी लिखा होता ।

लिखता भी कैसे । संस्कृत के आचार्यों ने पहले ही कवियों का रास्ता बन्द कर दिया है, ऐसा लिख कर कि सावन-भाद्र वर्षा के, आश्विन-कातिक-शरद के, माघशीर्ष और पौष हेमन्त के, माघ और फागुन शिशिर के, चैत और वैशाख वसन्त के तथा ज्येष्ठ और आषाढ़ ग्रीष्म के माह होते हैं । लेकिन वर्षा का आरम्भ तो आषाढ़ के आरम्भ से ही हो जाता है । शायद कवियों और काव्य आचार्यों के बताने के लिए आषढ़ ने अपने आने से पूर्व दक्षिण भारत और पाकिस्तान करॉंची शहर में ताण्डव नृत्य भी । शायद कवियों की आषाढ़ विषयक उदासीनता का यह कारण भी है ।

साहित्य में एक शब्द है 'कवि समय', यानी वह अगर झूठ भी है, तो वह सच है, क्योंकि हमारे ऋषि ऐसा कह गये हैं । सभी कवि को यह मालूम है कि वर्षा ऋतु के लिए हितकारी हवा पछिया ही होती है, पुरबा नहीं, 'पुरोवाता हता प्रावृट पश्चाद्वाता हता शरत्' लेकिन घाघ के समकालीन और संगी कवि भड्डरी ने कभी वर्षा में पुरबा का बहना क्या लिख दिया,

जों सौन पुरवैया बहै
सुखलो॑ नद्दी नाव चलै

तो आधुनिक कवि डॉ. डोमन साहु समीर ने यही लिखा,

लहकै पुरवैया कि लरकै बदरिया
रही-रही–
मारै कनखी बिजुरिया, कि रही.रही
बरसै जे पनिया कि चूवै अगरिया
भरी आनौं–

काश किसी कवि आचार्य ने दशकों पहले यह लिख दिया होता कि आषाढ़ के आगमन के साथ ही कदम्ब, अर्जुन, केतकी के वनों में रोमांच हो जाता है, मालती, मौलश्री, जूही की चाँदनी बिछने लगती है, तब हमारे आज के कवि भी वैसा ही लिखते । लेकिन नहीं लिखा किसी संस्कृत के कवि ने ऐसा, न ही किसी लोककवि ने । कल तक तो आषाढ़ के आने पर अंग की औरतें आषाढ़ के साथी, आम, जामुन, बाँस की पत्तियों से आषाढ़ की पूजा करती थी आद्रा पूजा । अब तो बस आम और जामुन खा कर आषाढ़ की महत्ता पर मौन रह जाती हैं । चौमासा में आषाढ़, सावन, भादो और आश्विन आते हैं, कभी लोग यह भी भूल जायेंगे, क्या पता–चौमासे के दो दबंग महीने सावन और भादो कभी आषाढ़ और आश्विन को चौमासे की सूची से बाहर ही कर दे । हाय आषाढ़ ।

('हिन्दुस्तान' भागलपुर, ५ जुलाई २००७)

मैं मुंदीचक हूँ, जो कहूँगा, सही-सही कहूँगा

मैं मुंदीचक हूँ । मुझे भी ठीक से स्मरण नहीं कि पहले मेरा नाम मुन्द्रिकाचक था, या मोइद्दीनचक और फिर घिसते-घिसते मैं मुन्दीचक हो गया । वैसे ये दोनों नाम मुझे बहुत प्रिय हैं–मुन्द्रिका चक ही नहीं, मोइद्दीन चक भी । ये तो आप बाद में स्वयं जान जाएंगे कि ऐसा क्यों ?

पहले मुझे ये तो बता लेने दीजिए कि जो लोग होली पत्रिका में यह कहता हुआ मुझे प्रकाशित करते हैं कि मैं कभी नहीं सुधरूँगा; इससे मैं बहुत आहत होता हूँ । इतिहास उठाइए तो देवता भी बेदाग नहीं निकलेंगे, मैं तो एक मुहल्ला हूँ । लेकिन वैसा मुहल्ला नहीं, जैसा कह कर मनचले मुझे छापते हैं ।

एक समय था जबकि मेरा अंग प्रत्यंग सोने से चमकता था । नहीं जाने आज की पीढ़ी, लेकिन मैं कैसे भूलूँ पाँचू साह, रघुनाथ साह, पद्दो साह, बंगाली साह, चरित्तर साह, सोना साह, बिसून साह और इन्द्रनारायण साह, फुच्चन साह, प्रभुलाल साह, मेलालाल साह जैसे स्वर्णकारों को, जिनके हाथ में विश्वकर्मा का हुनर या और लक्ष्मी की बात करूँ तो सुनिए, यह मुहावरा झूठ नहीं है, सच है कि कारखाने की सफाई की धूल में किलो भर सोने की गर्दी भी धूल के साथ निकल जाती ।

सोने का ही नहीं, नारियल, चूना पत्थर, सिमेंट का भी भरापूरा व्यापार देखा है मैंने इन आँखों से । अयोध्या प्रसाद सानन, मुन्दर साह, इन्दर साह, मेलाराम प्रभु, हरि साह, प्रयाग साह, रामलायक सिंह को कोई भूल जाए तो भूल जाए, मैं कैसे भूल सकता हूँ । भूलने को तो मैं यह भी नहीं भूल सकता, कि बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों ने अपने विद्यार्थी और राजनैतिक जीवन का किशोरकाल मेरी ही गलियों में गुजारा है । विश्वास न हो तो रासबिहारी भवन की पुरानी दीवारों या इसकी नींव की ईटों से पूछें, ये बताएंगी कि पूर्व मुख्यमंत्री विन्देश्वरी मंडल, पूर्व सांसद चुनचुन प्रसाद, पूर्व सांसद सुरेश प्रसाद यादव के कितने वर्ष मेरे साथ बीते हैं । आज भले ही पूर्व विधानसभाध्यक्ष सदानन्द सिंह, राजनेता अवधबिहारी सिंह से मेरा संबंध न रहा है, उनका किशोरकाल तो मेरे साथ ही उठने-बैठने में बीता है–भारतीय आजादी के संघर्ष के दिनों से ही । १९४२ के आन्दोलन में स्वतंत्रता सेनानियों को सहायता करने वालों में प्रमुख गाँधीवादी बोध नारायण मिश्र का बासा मेरी ही हथेली पर था–इतिहास में इसका उल्लेख हो कि न हो । इतिहास में सारी बातें दर्ज कहा हो पाती हैं ? हो पाता तो मेरी गली में भिखारिन बन कर मर गई स्वतंत्रता संघर्ष की क्षत्राणी राधा देवी का नाम नहीं होता । वह तो लक्ष्मीनारायण साह मधुलक्ष्मी को प्रशंसा कीजिए

कि राधा देवी का इतिहास रह गया । नहीं तो लोग उसे भी भुला देते, जैसे कि लोग इस बात को भूल गए हैं कि बीते वर्षों में मेरी गलियाँ कभी झूलनोत्सव के समय ब्रज और गोकुल से कम रम्य नहीं लगती थीं । आज भले मेरी ठाकुर बाड़ियाँ उदास-उदास सी लगे, लेकिन इन्हीं ठाकुरबाड़ियों में कभी रंगनाथ कौशिक की बाँसुरी, शिवसाह सितारिया का सितार, बंगाली साह का तबला, बाबूलाल साह का हरमोनियम, बिठ्ठल साह का ढोलक और किसुन साह का कलारनेट जब झंकृत होता था, तब मैं मुंदीचक नहीं, संगीत चक होता था ।

मैं एकदम आध्यात्मिक हो जाता था । मैंने देखा है, अपनी ही गली में रामायणी इन्दूभूषण को ठेहुने के बल सरकते और जवान होते । एक ओर राम का चरित गायन, दूसरी तरफ भजन और कीर्त्तन । शायद मेरी ही तरह यहाँ के लोग बौनू साह, राधेलाल पाठक, शिव साह, बिसुन साह, बाबूलाल साह और किसुन साह की कीर्त्तन मंडली को नहीं भूल पाए होंगे । संगीत के भागलपुर घराने में उस्ताद रशीद मियां मेरे ही आबो हवा की सन्तान हैं । मेरे इसी मिजाज को देखते हुए नारो बाबू ने छठे दशक के मध्य में या इसके आसपास अजन्ता के मंच पर जो संगीत समारोह किया था, जिसमें नृत्यसाम्राज्ञी सीतारा देवी का नृत्य, उदय महाराज, किशन महाराज का वाद्य-वादन भादो की तरह उमड़ रहा था, उसे भला कौन भुला पायेगा । कोई भूल भी जाए तो क्या, मैं कैसे भूल जाऊँ उस समारोह में रविशंकर के साथ गोपी-किशन की वह अद्‌भुत कला । बहुत बड़भागी हूँ मैं ।

वैसे, कौन-सा ऐसा मुहल्ला, समाज, जिला, प्रान्त, देश होता है, जहाँ अपराध ही नहीं घटा हो । मैं भी अपवाद नही हूँ, लेकिन इसी कारण आप मेरे बारे में यह लिखे कि मुन्दीचक कभी नहीं सुधरेगा, मुझे दुख देता है । मैंने तो समाज को सुधारने के लिए ही टी. एफ. लाल, कामेश्वर प्रसाद, राजेश चौधरी, लतीफ आलम, कमला प्रसाद, कृष्णानन्द झा, शाहमत हुसैन, सतीश प्रसाद दुबे, भगवान झा, सुकदेव प्रसाद जैसे नामी गरामी वकीलों को दिया है, वकील ही नहीं, लक्खी प्रसाद सिन्हा, प्रभाष चन्द्र सिन्हा, पुलीन कुमार सिन्हा मंगल घोष जैसे प्रतिष्ठित दस्तावेज लेखक को भी दिया है । पुरानी से पुरानी कैथी को पढ़वाना हो तो आपको मेरी गलियों तक आना पड़ेगा ।

लेकिन इतनी भी बात सही है कि अब मेरी गलियों की वह चमक दमक नहीं रही । नहीं रहा कविराज 'अंगार' का वह जमाना, जब इनके यहाँ कितने-कितने कवियों-लेखकों की बैठकें जमती थीं । कभी प्राण मोहन साह प्राण और डॉ. मधुसूदन साह भी डॉ. सामबे के मकान में ही रहते हुए वर्षों काव्य की साधना की थी और कभी कथाकार शिव कुमार शिव के डेरे पर हिन्दी के प्रख्यात रचनाकार

काशीनाथ सिंह, डॉ. शुकदेव सिंह, राजेन्द्र यादव, ज्ञानेन्द्र पति, चित्रा मुदगल, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, संजीव, रामधारी सिंह दिवाकर का आना-जाना बना रहता था । कविराज अंगार, डॉ. सामबे, शिवकुमार शिव, शिवशंकर सिंह पारिजात, मधुलक्ष्मी तो अब भी साहित्य सृजन कर रहे हैं, लेकिन साहित्य का मेरा वह सिंहासन श्रीहीन ही हो गया है । एक जमाना था, जब वैद्यनाथ प्रेस के मालिक गुलाब नारायण के यहाँ साहित्य का प्रयाग बसता था ।

मैं आई. ए. एस., आई. पी. एस. के नामों को नहीं गिनाऊँगा । अकेले ही मेरी कैथटोली में ऐसे कई नाम मिल जाएँगे । मैं तो साहित्य संस्कृति की बात कर रहा हूँ । एक जमाना था, जब रंगमंच से मेरी आवाज तब के भागलपुर तक गूंजती थी । कौन कहेगा यह सब कथा, अब तो राजेन्द्र प्रसाद, सूर्य नारायण प्रसाद, काली चरण मिश्रा भी नहीं हैं । अकेले नाटककार जितेन्द्र कुमार कहेंगे ? कह पायेंगे सारी बातें ? कौन मेरे दुख को बयान करेगा ? क्या अलका सिन्हा जो लोकसभा प्रवक्ता हैं । कोई नहीं मेरे दुख को बाँचने वाला है, कोई नहीं जानना चाहता है मेरे अतीत को, महापुरुषों को, जिनके नाम की गलियाँ मेरे सीने पर इन्द्रधनुष की तरह उगी हैं—ग्रीस बनर्जी रोड, जानकी प्रसाद लेन, नकुल चन्द्र लेन, राधा देवी लेन । ये सभी रास्ते मेरे महान पुरुषों के इतिहास ही तो हैं । और जानिएगा, तो जानिए—पूर्व प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी के शासन काल में महान वैज्ञानिक डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम के अणुबम कार्यक्रम में मेरी धूल की मणि रतन कुमार सहाय का भी सक्रिय सहयोग रहा । क्या हुआ कि अब वह बम्बई निवासी हैं और क्या हुआ कि प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ. प्रतिमा मोदी भी अब मेरी गलियों में नहीं रहतीं । और इससे भी क्या हुआ कि नटराज होटल के मालिक सुरजीत सिंह भी कहीं और बस गये हैं ।

मेरा अतीत धूमिल हो रहा है, तभी तो मुझे काली छायाएँ भी कभी-कभी घेर लेती हैं । सबको पता है कि किस तरह मुहर्रम हिन्दू-मुसलमान साथ मिल कर यहाँ ताजिया उठाते थे—सोने-चांदी से मढ़कर मेरे स्वर्णकारों ने मुसलमान भाइयों के लिए ताजिया बनाया था । आँखों से अब भी वह दृश्य जाता नहीं । उन्नीस सौ पैसठ में वह घटना क्या घटी, कि पंखा टोली ही उजड़ गई । उस दिन मैं बहुत रोया था । पंखा टोली, कैथ टोली और सुनार टोली—ये टोलियाँ ही तो मेरे लिए त्रिलोक थीं, उस दिन एक लोक उजड़ गया था । मैं भूला नहीं हूँ कि दूर-दूर तक कव्वाली की धूम मचा देने वाले महमूद, जो नेत्रहीन होने के कारण काना कव्वाल के नाम से ही विख्यात थे, मेरे ही आबो हवा में जन्मे, पले और जवान हुए थे । भावी को कौन रोक सकता है, शायद इसी कारण ज्योतिष तारकेश्वर त्रिपाठी और तांत्रिक

उमाकांत मिश्र ने मुझसे कुछ नहीं कहा । लेकिन एक दर्द ही तो नहीं है मेरे सीने में । करने को तो जब भी मैं नारायण भाई गुजराती की याद करता हूँ, मैं व्याकुल हो उठता हूँ । कंट्रोल की दुकान चलते थे, लेकिन किसको नहीं सहयोग करते थे, वह तो पूरे मुंदीचक में गाँधी जी के नाम से ही विख्यात थे ।

तब मेरी कीर्ति और शान का बखान यह शिव फ्लावर मिल अपनी ऊँची गर्दन से करती रहती थी । गर्दन तो आज भी उसकी ऊँची है, लेकिन आवाज बंद हो गई है और इसी कारण हजारों हजार एक साथ उड़कर आने वाले कबूतर भी उस पर अब नहीं दिखते । लेकिन मैं हारा नहीं हूँ । मैंने हारना सीखा ही नहीं । आप जानते हैं, अपनी खोई हुई समृद्धि को पाने के लिए मैंने अपने गढ़ैया पेट पर एक समृद्ध बाजार बसा दिया है । आइए तो मैं आपको दिखाऊँगा कि जिस जगह कभी नगर भर का कूड़ा गिरा करता था, वहाँ समृद्धि का कैसा व्यापार केन्द्र बस गया है । देखेंगे तो आप भी कह उठेंगे–

हजारों में कभी देखा नहीं
हसीं तुम-सा कोई चेहरा नहीं ।

('हिन्दुस्तान' भागलपुर, १७ जनवरी २००८)

और वह पगली चीथड़े को तिरंगा बना नाँचने लगती थी

लेकिन वह पगली नहीं थी । वह तो भारत की आजादी के लिए बन गई दीवानी थी । कालखंड था उन्नीस सौ बयालीस । पूरे देश में आजादी के लिए असहयोग आन्दोलन का उन्माद छा गया था । हाथों का तिरंगा आकाश छूने लगा था और 'भारत माता की जय' का नारा आकाश को चीर रहा था । तब अंगप्रदेश के एक छोटे-से मुहल्ले में घर की सारी मर्यादाओं को तोड़ भारतीय आजादी के लिए वह बेचैन हो गई थी–उसका नाम था राधा देवी । मुंदीचक मुहल्ले के एक स्वर्णकार परिवार की देवी । आधी शती पहले इस समाज में पर्दा प्रथा वैसी ही कठोर थी, जेसै कभी इनके पूर्वजों में रही होगी । लेकिन इस प्रथा को इसी मुहल्ले की उस सोनारिन ने उसी तरह तोड़ दिया था, जैसे कभी राजस्थान में मीराबाई ने पग में घुंघरू बाँध ा कर किया था । राधा देवी के पूर्वज भी तो राजस्थान से ही आये थे । लेकिन मीरा और राधा के आराध्य अलग-अलग थे–एक का कृष्ण था तो दूसरे का भारत देश । दोनों का काल भी अलग है । मीरा मध्यकाल की थी, राधा आधुनिक काल की । उन्नीस सौ बयालीस का समय ।

वह आजादी के भाग्य के फैसले का समय बन गया था । राधा देवी के कानों में स्वाधीनता सेनानी की कहानियाँ पहुँची और उसका भी मन देश के लिए कुछ करने को बेचैन हो गया । निकल पड़ी सड़कों पर । घर-घर आजादी के संदेश को बाँटने लगी । न खाने की सुध, न आराम की चिन्ता और न अपने ही लोगों की उलटबासियों का फिक्र । दूसरे की क्या बात, स्वजनों ने ही क्या-क्या न कहा उसको–''ई मौगी, कहीं सें मौगियो लागै छै की ? घोंर-परिवार के लाज तेजी कें आन मरद, मुंसा साथें बैठलों फिरै छै, सबटा कुल्टा के लक्षण आवी गेलों छै ।'' तब राधा देवी इन उलटवौसियों से न डिगनेवाली थी, न डिगी ।

किसने उस औरत के सीने में राष्ट्रप्रेम की वह आग भर दी थी । ऐसा कुछ भी तो उस टोले की जनानियों में नहीं था कि शोला बन खड़ी होती । बच्ची राध ा की नैहर भी मुंदीचक और ससुराल भी मुंदीचक ही–काली मंदिर के सामने । कब उसकी शादी हुई थी, उसे भी नहीं मालूम, हाँ यह सभी को मालूम था कि आजादी मिलने के पूर्व ही राधा के पति गुल्लो शाह स्वर्णकार की मृत्यु हो गई थी। और १९४२ के पूर्व ही गाँधी जी के आह्वान पर राधा घर से निकल गई थी । कभी चम्पक देवी के साथ और कभी स्वाधीनता संग्रामी सियाराम सिंह के साथ । हाथों में झंडा लिए

इधर-उधर दौड़ती ही रहती ।

आप सोच भी नहीं सकते, जो राधा देवी कभी हाथों में आजादी का झंडा लिए इधर-उधर दौड़ती फिरती थी, वही आजादी के मिलने के बाद अपनी भूख और बीमारी को लेकर इधर-उधर बिललाती फिरती रही । पति की मृत्यु के बाद वैसे भी वह घर-परिवार से छूट गयी थी । कम उम्र में ही बेटे की शादी हो गई थी । राधा देवी के पास भूख, परचे, नारे के सिवा था ही क्या—बेटे को देने के लिए, तो बेटा माणिक साह भी पत्नी को लेकर नेपाल चला गया था, रोटी की जुगाड़ में । तब राधा देवी की उम्र तीस वर्ष की रही होगी ।

भारत की आजादी ने बहुतों को बहुत कुछ दिया, किसी को गद्दी, किसी को राज-पाट, किसी को पदवी, लेकिन राधा देवी इनमें से कहीं नहीं थी । वह अपना दुख कहती भी तो किससे ? जिस भूख को अब तक वह भुलाए हुए थी, उसी भूख ने उसे विवश किया भीख मांगने के लिए । वह भीख मांगने लगी । उसके ही स्वजनों ने देखा—असमय में ही वह हठात बूढ़ी हो गई थी । काले रंग की राधा, सफेद बालों में कैसी तो विचित्र बन गई थी । शरीर पर साड़ी की जराह बोरे का फटा-चिटा वस्त्र और हाथ में एक लाठी । आजादी के पूर्व वह स्वजनों के मजाक का पात्र थी, आजादी के बाद वह मुहल्ले के बच्चों का मनोरंजन का साधन बन गई । वह आगे आगे भीख मांगने बढ़ती ओर बच्चे उस पर कंकड़ी मारते हँसते । वह लाठी लेकर मारने दौड़ती । बच्चे विपत्ति को एकदम निकट देख जोर से चिल्ला पड़ते—''भारत माता की जय'' और बुढ़िया राधा देवी तब हाथ की लाठी को ध्वज की तरह उठाए नाचने लगती विक्षिप्त-सी । आजादी की लड़ाई और आजाद भारत को याद कर ।

वह सचमुच में विक्षिप्त हो गई थी, भूख और शारीरिक क्षीणता से । भोज और त्योहार की जूठे पत्तलों को चाटने के लिए विवश हो गई थी । रोग ने ऐसा दबोचा कि चलने से भी लाचार हो गई । किसी से पत्र लिखवाया राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू के नाम । और तब राष्ट्रपति का संदेश पाकर स्वयं श्री बाबू आए थे भागलपुर, राधा देवी को देखने । इलाज भी हुआ, ठीक भी हुई । लेकिन राधा देवी ठीक नहीं हुई । दूर-दूर तक अपनों की कोई छाया नहीं थी—बस भूख पास-पास रह कर उसे दो-तीन दिन भूखा रख देती । पगली हो गई राधा देवी । रोग ने छोड़ कर भी कहाँ छोड़ा था उसे ।

वह पूस का महीना था । मुंदीचक का नकुल चंद्र लेन और श्री प्रसाद जी का बरामदा । उसी बरामदे पर विक्षिप्त राधा देवी, भूख और बीमारी से लड़ती कई दिनों से देखी जा रही थी । और फिर एक दिन लोगों ने उस पगली का आधा शरीर बरामदे पर, आधा शरीर बरामदे की नीचे बहते नाले में धँसा देखा ।

लगभग पचास वर्ष पूर्व की वह घटना अचानक ताजा हो गई है, जब पगली को कंकड़ मारने वालों में एक लड़का मधुलक्ष्मी साह से मुलाकात हो जाती है । लक्ष्मी या नी राधा देवी का पोता । बातों ही बातों में करूण होते मधु कहता है, ''मेरी भाग-दौड़ से राधा देवी के घर से गुजरने वाली सड़क का नाम राधा देवी मार्ग हो गया है । नामी नेता आए थे, जिलाधिकारी शशि शर्मा की स्वीकृति मिली थी । अनुशंसा करनेवाले नामी मंत्री थे—भागवत झा आजाद, शिव चंद्र झा । तब विश्वनाथ चौधरी और भादरमल शर्मा ने भी साथ दिया था । मन हल्का हल्का-सा लगता है ।''

आँखें अंधमुंदी-सी हो जाती हैं । हाथों में तिरंगा लिए उसी राधा देवी की तस्वीर उभर आती है और मेरे अधर सुभद्रा कुमारी चौहान की पंक्ति में कुछ फेर-बदल कर कह उठते हैं,

खूब लड़ी मर्दानी
वह तो मुंदीचक की देवी थी ।

('हिन्दुस्तान' भागलपुर, २४ जनवरी २००८)

यही ठियां टिकुली हेराय गेलै दैया गे

जोगसर । यह नाम याद आते ही लोगों को ढेर सारी कहानियाँ याद आने लगती हैं । उन कहानियों में न केवल नगर के रंगीन शौक के राजकुमारों की बातें होती हैं, बल्कि जुड़ते-जुड़ते कथाकार शरतचन्द की कहानी भी जुड़ जाती है ।

हाँ, लोककथा की तरह यह बात बहुत प्रचलित है कि देवदास की नर्त्तकी चंद्रमुखी यहीं एक कोठे में रहती थी, जहाँ शरत बाबू आया-जाया करते थे । कोई शक नहीं कि शरत बाबू को इसने 'देवदास' जैसी अमरकृति दी है, इसे साहित्य कभी नहीं भुला सकेगा । तब इसका पूरा बदन नृत्य और गायन से थिरकता रहता था,

धा तिर धिं धा धा तिं तिं
धिन धिंधि नाति नाधिं धिना

घुंघरुओं से कंठों का वह शृंगार भला यह कैसे भूले,

मोरा पिछुवाड़ी चमेली केरों गछिया
छछन बिछन करै डार कि मोरा मन भावै

कभी हिंडोल, कभी मेघ मल्हार, कभी मालकोष और फिर इन्हीं रागों की रागनियों में झूमती शामें । झूमती गलियाँ । डोलती हवाएँ ।

यह कैसे कोई कहे कि देवदास की चन्द्रमुखी से पहले यहाँ कोई नृत्य और संगीत का जादू नहीं बिखेरती थी । हाँ, इतना जरूर है कि आज जहाँ मंसूरगंज है, वह भी योगसर ही था । लोकभाषा में 'य' को 'ज' बोलने की आदत-सी होती है, इसीसे यह जोगसर हो गया । हो सकता है, गंगा के जल ने यहाँ एक बड़ा सरोवर बना दिया हो, जिसके किनारे योगियों का योग जागता हो । लेकिन सर का एक मानी तो नहीं । इसका अर्थ तो गतिशील भी है, शीर्ष भी, तीर भी । संभव है, योग का यह शीर्ष केन्द्र रहा हो । नाथनगर नाथों का नगर तो था, लेकिन योगसर योग के संधान का केन्द्र रहा हो ।

कोई ठीक-ठीक नहीं बता सकता कि यह बात कितने सौ वर्ष पुरानी है । हो सकता है कि पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व के आस-पास वज्रयानी, नाथपंथी योगियों का जमावड़ा यहाँ रहा हो, जो अपने को शिव का अवतार ही मानते थे । योगसर के शिव रूप से आप बातों की गहराई तक जा सकते हैं । इन वज्रयानियों, नाथपंथियों में पंच मकार की साधना थी—मांस भी, मदिरा भी, मैथुन भी । क्या पता, इसी सब के कारण कालान्तर में इस पर रतिरंग की बस्ती बस गई ।

आगे चल कर नाथों का योग तो धीरे-धीरे खत्म हो गया, लेकिन रतिरंग

खत्म न हो सका ।

समय बहता रहा । योगी गये । योग गया । और फिर वह दिन भी आया, जब लोगों ने इसके एक अंग को योगसर के बदले मसूरगंज कहना शुरू कर दिया । योगसर इससे कटता गया; योग का संगीत मुट्ठी भर मंसूरगंज की कोठियों में कैद हो गया ।

और तब, योगसर योगसर से ज्यादा मंसूरगंज के नाम से जाना जाने लगा । रति-कथा ज्यादा तेजी से फैलती है । वही हुआ । लोगों ने भुला दिया कि कभी इसके चारो ओर अलख निरंजन का नाद घहराता था । शरीर का संयोग तो तब परमेश्वर से साक्षात्कार का माध्यम था—जहाँ देह अपना कोई अस्तित्व नहीं रखती थी । भूलने को तो लोग अब यह भी भूल गये हैं कि इसके कोठे पर सिर्फ कथाकार कवि ही नहीं आये, तपस्वी भी आये । संगीत किसे नहीं खींचता है । वही तपसी बाबा, जिन्होंने भागलपुर की गंगा के दियारे में बारह वर्ष की कठिन साधना कर, भागी हुई गंगा की धार को फिर वापिस किया था । विश्वास नहीं होगा, लेकिन यह सच है । वही तपसी बाबा इसकी गलियों में संगीत सुनने आ जाते । इतने बड़े तपस्वी और रतिकन्याओं के कोठे पर । काना-फुसी शुरू हुई, तो तपसी बाबा ने सबको सुनाकर कहा, ''वे नृत्यांगना मुझे सुनने आती हैं तो मैं उन्हें सुनने क्यों नहीं जाऊँ ?''

तब तपसी बाबा की बात अलग थी ।

समय परिवर्तन के साथ-साथ विचार भी बदलते गये । योग के सिंहासन पर भोग आसीन हुआ । और फिर जो होना था, सो हुआ । वे सारी बातें यह मुहल्ला आप को नहीं बता सकेगा । बता कर भी क्या करेगा ।

कभी बंगला के शरत बाबू ने इसके मन को छूने की कोशिश की थी, लेकिन बस कोशिश भर ही, जैसे संगीत में 'कण' होता है न, उसी तरह । साहस कहिए हिन्दी के कथाकार शिव कुमार शिव का, कि उन्होंने अपने तीन सौ पचहत्तर पृष्ठों के उपन्यास 'तुम्हारे हिस्से का चाँद' में इसके चाँद को चकोर की तरह देखा है । जब मैं पिछले दिनों उस उपन्यास को पढ़ रहा था, तब लगा जैसे असगरी फिर अपने कोठे की छत पर बैठी हुई हो । अपने आपमें बकी जा रही है, ''मैंने जो कुछ किया—पेट के लिए किया, लेकिन लोगों ने गालियों के सिवा क्या दिया—कैसे-कैसे घिनौने शब्द थे मेरे लिए—गणिका, पतुरिया, वेश्या, रण्डी । कभी भी मुझे वारस्त्री या रूपाजीवा नहीं कहा । मैं तो खैर असभ्य भी, असंस्कृत भी, लेकिन पढ़े-लिखे लोग भी क्या यह नहीं जानते कि गाली और सम्मान के शब्दों में अन्तर होता है । वैसे वारस्त्री या रूपाजीवा का अर्थ भी पतुरिया ही है । लेकिन ये गाली की तरह नहीं

लगते, इसलिए अच्छे भी लगते हैं । वैसे मैं लोगों के लिए रूपाजीवा कभी नहीं रही । रहा होगा कभी रूपाजीवा का सम्मान, रजबाड़े और सामन्तकाल में, जब नीति और राजनीति में प्रवीण होने के लिए मेरी जरूरत थी । राजा अपने राजकुमारों को मेरे घर भेजते थे । सभी कलाओं से निपुण रूपाजीवाएं राजाओं के घर की रानियाँ भी बनती थीं । विश्वास न हो तो 'कथा सरितसागर' उलटा कर देख लीजिए । वैसे भी राजा विक्रमादित्य और मदनमाला रूपाजीवा के परस्पर प्रेम की कथा तो विख्यात ही है ।

अगर यहाँ की धूल में भी ऐसी कथाएँ मिल जाए तो अचरज नहीं । प्रेमकथाओं से अलग भी कुछ कथाएँ मिल जायेगी । कोई ढूंढने वाला ही नहीं । देह ढूंढने वाले शायद यह कभी नहीं जान पायेंगे कि बेलहर, कटोरिया, फूलीडूमर की सीमाओं से बना तिनमुण्डा गाँव में सरसतिया नाम की भी रूपाजीवी थी । रूप और संगीत से कमाये धन को स्वतंत्रता सेनानियो को देती रही; क्रांतिकारियों को घर में छिपा लेती थी और जब अंग्रेजी सिपाहियों ने परेशान किया तो घर-द्वार छोड़ कर गाँव-गाँव में नाँच-गान करने लगी, आजादी के लड़ाकों को मदद करने के लिए । और तिनमुण्डा की रूपाजीवाओं को आज क्या कुछ नहीं झेलना पड़ रहा है, जाकर उन्हीं से पूछिए । इन गन्धर्व नारियों की सन्तानों को पिता के नाम नहीं मिलते । मतदाता सूची में किसी पुरुष का नाम लिखकर अंत में गन्धर्व लिख दिया जाता है । संगीत पुत्री का रतिकन्या तक की कथा रोंगटे खड़ा कर देने वाली हैं । कैसा जीवन है इन गन्धर्वपुत्रियों का । पुत्रियों को पिता के नाम नहीं मिलते तो उम्र भर के लिए पति भी नहीं । बनारस की दालमण्डी की मशहूर नर्तकी नौरंगी बाई को कभी मंसूरगंज में ई. १९७१-७२ के आसपास इसी सिलसिले में आकर रहना पड़ा था । अब तो कुर्मे का वह एकलौता हॉटल भी नहीं कि सारी कथा बताए ।''

असगरी बोले जा रही थी, ''जरूरत जब हवस में बदल जाती है, तब सब कुछ स्वाहा हो जाता है । और वही हुआ । गलतियाँ किसकी थीं—यह तो कल का समय विचारेगा । लेकन जब आदमी की आँखों और देह में काँटों के जंगल उग आये और उसमें असगरी की जगह अजगर बसने लगे तो उसका नष्ट हो जाना भी निश्चित है, इसे अनैतिक कैसे कहूँ । इतनी दुआ जरूर करूँगी कि जिस तरह तुम्हारे हिस्से का चाँद' में रौशन, मंजू, किरन को उसके हिस्से का चाँद मिल गया है, वैसे बाकी बची मेरी सभी रूपाजीवाओं को मिले । चाहे वे इन गलियों की हों, या तिनमुंडा की, या मुंगेर की किसी बाजार की ही । योगसर फिर योगसर बने, यह तो मैं भी चाहती हूँ और यह भी चाहती हूँ कि मेरी चमड़ियाँ पर चन्दन और उबटन चढ़ाया जाए ।''

फिर हठात् ही अपनी रसीली सुर में असगरी यह गाती हुई छुप गई थी,

''यही ठियां टिकुली हेराय गेलै दैया गे ।'

('हिन्दुस्तान' भागलपुर, ६ मार्च २००८)

बिहार में हिन्दी कहानी की यात्रा-कथा

'चन्द्रकान्ता सन्तति' जैसा, तिलस्म-अद्‌भुत साहस और प्रेम की कथा का उपन्यास लिख कर हिन्दी में कथापाठकों की भीड़ खड़ा कर देने वाले चाहे देवकीनन्दन खत्री हों, जिनका रचनाकाल प्रेमचन्द से पूर्व का है या फिर प्रेमचन्द-काल के पूर्व के ही कथाकार पं. किशोरी लाल गोस्वामी, जिन्होंने, आलोचक रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, हिन्दी में मौलिक उपन्यासों की झड़ी लगा दी या फिर प्रेमचन्द-काल में ही शिवपूजन सहाय, जिन्होंने 'देहाती दुनिया' उपन्यास के द्वारा हिन्दी में आंचलिक कथा-साहित्य की नीव रखी या फिर प्रेमचन्दोत्तर-काल के उन कई महत्वपूर्ण कथालेखकों की ही बात क्यों न हो, जिन्होंने प्रेमचन्द-युग में भी और बाद में भी अपने निरन्तर कथा-लेखन से हिन्दी कथा साहित्य को उसके प्रारम्भिक लेखन की जमीन से ऊपर उठाकर आकाश की ऊँचाइयाँ प्रदान की । ऐसे कथाकारों में रामवृक्ष बेनीपुरी, अनूपलाल मण्डल, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के नाम भी प्रमुखता के साथ शामिल हैं ।

बिहार में शिवपूजन सहाय की कथा-शैली का प्रभाव परवर्त्ती और समकालीन कथालेखकों तथा बिहार की आधुनिक हिन्दी कहानियों के विकास पर साफ-साफ देखा जा सकता है । यह सही है कि देवकी नन्दन खत्री के समकालीन या परवर्त्ती बिहारी कथालेखकों ने अपने कथा-साहित्य में तिलस्म-एय्यारी को अछूत करार दे दिया, लेकिन 'चंद्रकांता सन्तति' में जिस प्रेम, साहस को विराट रूप प्राप्त है, उसकी छटा, उसके सौन्दर्य को न तो खत्रीजी के परवर्त्ती कथाकार भुला पाए और न तो आधुनिक कहे जानेवाले बिहार के नये कथाकार ही उस धारा से दूर खड़े रह पाए हैं । यह अलग बात है सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में भारी बदलाव के कारण प्रेम के स्वरूप और इसकी अभिव्यक्ति में अब काफी बदलाव आ गया है ।

बिहार के कहानी-साहित्य के इतिहास को तीन भागों में रखकर हम इसके विकास के काल को समझ सकते हैं । ये काल शिवपूजन सहाय से पूर्व शिव-पूर्व काल, शिवकाल, शिवोत्तर आधुनिक काल हैं । यूँ संख्या की दृष्टि से शिवपूजन सहाय की कहानियाँ अधिक नहीं हैं, लेकिन अपने निर्विवाद और अद्वितीय व्यक्तित्व को लेकर सहाय उपरोक्त आलोच्य युग पर छाए रहे, इसीसे इस युग को शिवयुग कहना अधिक सार्थक होगा ।

आधुनिक समय में जिस तरह हिन्दी में कहानियों का अभूतपूर्व सृजन बिहार में हुआ है, वैसा खत्रीयुग या शिवपूजन-युग में हम नहीं पाते । लेकिन इसका

अर्थ यह कदापि नहीं है कि पूर्व कालों में कहानी के सृजन में उन लेखकों ने कोई विशेष दिलचस्पी नहीं दिखाई या कि कहानी-लेखन का इतिहास बहुत दुर्बल रहा । यह सच है कि भुवनेश्वर मिश्र, ब्रजनन्दन सहाय, जयराम लाल रस्तोगी, शालिग्राम गुप्त, मुंशी हजारी लाल, गंगा प्रसाद श्रीवास्तव, राजा राधिकारमण सिंह, छविनाथ पाण्डेय, लक्ष्मी नारायण सुधांशु के अतिरिक्त ऐसे कई कथाकार हैं, जिनकी प्रसिद्धि इनके उपन्यास-साहित्य को ही लेकर है, लेकिन ऐसा भी नहीं है कि इन उपन्यास लेखकों ने अपने को कहानी-लेखन से अलग-अलग रखा है । वास्तविकता तो यही है कि इनमें से कई कथा-लेखकों की प्रसिद्धियाँ भी इनके कहानी-साहित्य पर ही आधृत हैं ।

हिन्दी कहानी में शिवोत्तर आधुनिक युग के प्रारम्भ के पूर्व शिवयुग से ही बिहार में जिन हिन्दी कथाकारों ने हिन्दी कहानियों को सजाने-संवारने का काम किया, उनमें प्रमुख हैं—शिवपूजन सहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, ईश्वरी प्रसाद शर्मा, कृष्ण चैतन्य गोस्वामी, राहुल सांकृत्यायन, दुर्गा शंकर प्रसाद सिंह, जी. पी. श्रीवास्तव, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', प्रफुल्ल चन्द ओझा मुक्त, गोकुलानन्द वर्मा, कृपानाथ मिश्र, राधाकृष्ण, आरसी प्रसाद सिंह, जानकी वल्लभ शास्त्री, नलिन विलोचन शर्मा, कृष्ण अली अलवर्ट, शिवनन्दन प्रसाद, सुरेश चन्द्र जैन, दिवाकर प्रसाद विद्‌यार्थी, कमल जोशी, नरेश और सरयू पंडा गौड़ । इस युग में प्रकाशित प्रमुख कहानी-संग्रहों में—''कुसुमांजलि, गाँधी टोपी, सावनी सभा (राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह), लम्बी दाढ़ी (जी. पी. श्रीवास्तव), लाल तारा, चिता (रामवृक्ष बेनीपुरी), रेखा (मोहनलाल महतो वियोगी), किसलय, मालिका, मृदुदल, मधुमयी (जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'), गुलाब की कलियाँ, रसरंग (लक्ष्मी नारायण सुधांशु), बेलपत्र (प्रफुल्ल चन्द्र ओझा मुक्त), चतुर्वेद (योगीन्द्रनाथ समाददार) लेखक की बीबी (सरयू पंडा गौड़), सरिता (सूर्यदेव नारायण श्रीवास्तव), हिन्दुस्तानी कहानियाँ (कृपानाथ मिश्र), पंच पल्लव, खोटा सिक्का, कालरात्रि, एक प्याला चाय (आरसी प्रसाद सिंह), रजनी और तारे (दिवाकर प्रसाद विद्‌यार्थी), कानन, अपर्णा (जानकीवल्लभ शास्त्री), गोधुलि (नरेश), शीराजी (कमल जोशी), देवता, विभेद, अंतर की बात खरा और खोटा, कटे पंख (राधाकृष्ण प्रसाद) हैं।

इस युग के कहानीकार अपने कथ्य और शैली को लेकर कहानी के कई वर्ग तैयार करते हैं । जहाँ शिवपूजन सहाय ने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों को लेकर राष्ट्रीय चेतना के लिए कहानी लिखी तो सामाजिक उद्धार के लिए भी । जहाँ ईश्वरी प्रसाद शर्मा की कहानियाँ हिन्दू-संस्कृति को विषय बनाकर चलने वाली कहानियाँ हैं और जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की कहानियाँ

मानवीय मूल्यों पर आधारित कहानियाँ, वहीं राहुल सांकृत्यायन की कहानियाँ सामाजिक, आर्थिक यथार्थ को उभारने वाली कहानियाँ हैं । इस युग में जी. पी. श्रीवास्तव ने हास्य-व्यंग्य-शैली के प्रमुख कहानीकार के रूप में प्रसिद्धि अर्जित की तो सरयू पंडा गौड़ की कहानियाँ भी हास्य-व्यंग्य की परम्परा की ही हैं । इसी युग में ग्रामीण जीवन की सशक्त कहानियाँ प्रस्तुत करने में रामवृक्ष बेनीपुरी ने अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया । अपने आन्तरिक कथ्य के अनुकूल ही इन कहानीकारों ने भाषा के सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, आंचलिक और व्यंग्यात्मक रूपों को प्रस्तुत किया है, जो बाद में बिहार में लिखी गई शिवोत्तर युग की आधुनिक हिन्दी कहानियों में और भी प्रमुखता के साथ दिखाई पड़े ।

मुख्यतः काव्य-सृजन से जुड़े जानकी वल्लभ शास्त्री और आरसी प्रसाद सिंह जैसे कई कहानीकारों के कथा-साहित्य में भाषा की जो काव्यमयी शैली दृष्टिगत है, वह भी शिवकाल की कथा-भाषा का एक महत्वपूर्ण पक्ष है । इस युग के बाकी सभी कहानीकारों के विषय और शिल्प भी उपरोक्त उल्लखित विषय और शिल्प-शैली के आस-पास के ही हैं ।

शिवोत्तर युग ही बिहार में आधुनिक हिन्दी कहानी-लेखन का युग है । इस युग में मुख्य रूप से अंग जनपद और अन्य जनपद के कहानीकारों ने हिन्दी कहानी को जो एक नई पहचान देने की कोशिश की, उसे अब राष्ट्रीय स्तर पर भी स्वीकृति मिल चुकी है । अंगजनपद के कहानीकारों में फणीश्वर नाथ रेणु, राजकमल चौधरी, मधुकर गंगाधर, रामधारी सिंह दिवाकर, चन्द्र किशोर जायसवाल, कमला प्रसाद बेखबर, सुभाष कुमार, श्रीकेशव जैसे विशिष्ट कहानीकारों के अतिरिक्त सच्चिदानन्द धुमकेतू, देवेन्द्र सिंह, शीतल अवस्थी, पी. एन. जायसवाल, उमाकान्त भारती, सदाशिव सुगंध, मधुसूदन साहा, श्याम सुन्दर घोष, मधुर कमल, सुधाकर, शिव कुमार शिव, रॉबिन शॉ पुष्प, अनिरूद्ध सिन्हा, अनिरूद्ध प्रसाद विमल, राम किशोर, दिनेश तपन, अनिरुद्ध प्रभाष, शिवनन्दन सलिल, अनिल शंकर झा, रणविजय सिंह 'सत्यकेतु', योगेन्द्र जैसे कहानीकार अपनी कहानियों को लेकर अति चर्चित रहे हैं । बिहार के भोजपुर अंचल के राधाकृष्ण सहाय, मिथिलेश्वर, मधुकर सिंह, सृंजय, प्रेम कुमार मणि, अरविन्द कुमार, राकेश कुमार सिंह के अतिरिक्त मध्य बिहार के कई कहानीकारों ने अपनी राष्ट्रीय पहचान अर्जित और स्थापित की है । इन कथाकारों में कुछ प्रमुख हैं—वसन्त कुमार, जवाहर सिंह, शैवाल, भगवती शरण मिश्र, मायानन्द मिश्र, भगवती प्रसाद द्विवेदी, ऋषिकेश सुलभ आदि ।

दक्षिण बिहार के हिन्दी कहानीकारों में श्रवण कुमार गोस्वामी, ऋता शुक्ला, रामकुमार तिवारी, सी. भाष्कर राव, वासुदेव, प्रहलाद चन्द्र दास, राकेश कुमार सिंह

ही ऐसे कहानीकार हैं, जिन्होंने शिवयुग के हास्य-व्यंग्य के प्रख्यात कहानीकार राधाकृष्ण के बाद ही शिवोत्तर युग में अपनी लोकप्रियता को मजबूती के साथ स्थापित की है । लेकिन यह तो कहा ही जाएगा कि जिस विश्वास और मजबूती के साथ अंगजनपद और भोजपूर अंचल के नये कहानीकारों ने अपने-अपने अंचलों की पीड़ाओं और हर्ष को अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति दी है, वैसी वृहत्तर कोशिश दक्षिण बिहार के कहानीकारों में प्राप्त नहीं, जबकि कहानी के कथ्य की दृष्टि में दक्षिण बिहार के अंचल कहीं अधिक उर्वर हैं । आधुनिक समय में दक्षिण बिहार की पीड़ाओं को जिस तरह उपन्यासों में इस अंचल के कथाकारों द्वारा पकड़ने की कोशिश हुई है, वह बात कहानियों में आना अभी भी बाकी है । शिवोत्तर आधुनिक युग के कुछ प्रमुख कहानी-संग्रहों में जालीदार परदे की धूप (राधाकृष्ण सहाय), मछली मरी हुई, अग्नि स्नान, बीस रानियों का वाइस्कोप, नदी बहती थी, देहगाथा (राजकमल चौधरी), ठुमरी, आदिम रात्री की महक (फणीश्वर नाथ रेणु), नागरिकता के छिलके, तीन रंग तेरह चित्र, हिरना की आँखें, गर्म गोश्त बर्फीली तासीर, शेर छाप कुर्सी, गाँव कस्बा नगर, उठे हुये हाथ, मछलियों की चीख, सौ का नोट, बरगद (मधुकर गंगाधार) अलग-अलग अपरिचय, बीच में टूटा हुआ, नया घर चढ़े, सरहद के पार, धरातल, मखान पोखर (रामधारी सिंह दिवाकर), हरिहर काका, बाबूजी, बंद रास्तों के बीच, दूसरा महाभारत, मेघना का निर्णय, तिरिया जनम, एक में अनेक, एक थे प्रो. बी० लाल, भोर होने से पहले, चल खुसरो घर आपने (मिथिलेश्वर), मैं नहि माखन खायो, मर गया दीनानाथ, हिंगना घाट में पानी रे (चंद्र किशोर जायसवाल), चीरहरण, अस्तित्वबोध (भगवती शरण द्विवेदी), विद्या ठकुराईन (कमला प्रसाद बेखबर), देह दाह, जूते, दहलीज, (शिव कुमार शिव), गाँधीजी नहीं रहे (शीतल अवस्थी), संसद में सोने का सुख, एक अधूरी आत्मा, दावानल, ताकि शेष रहे मन (सी. भास्कर राव), जमीन, जनता की अदालत (सुरेश कांटक), रैन भई चहुँ देश (राकेश कुमार सिंह), ग्यानूड़ी (सदाशिव सुगंध), आखरी कैफियत के बाद, अंजुरी भर राख, एक थी शकुन (सच्चिदानंद धूमकेतु), तिरहुतिया, भोज (देवेन्द्र कुमार सिंह), नये आदमी का जन्म, आग अब भी जल रही है (केदार सारथी), कलाकार का जन्म (सुधाकर), काला दिन (उमाकान्त भारती), चौपाल (मधुकर सिंह), मगरी (सुरेन्द्र प्रसाद यादव), आपकी सुनीता (अनिरुद्ध प्रसाद विमल), बबूल के फूल (राम किशोर), टीस का स्वाद (तपेश्वर नाथ प्रसाद), राजेश सहाय का इस्तिफा (अरविन्द कुमार) गंगा की कोख (राम किशोर) हैं ।

बिहार के सभी प्रमुख, अप्रमुख और आधुनिक कहानीकारों ने अपनी कहानियों में बीसवीं शताब्दी के साठ के बाद के स्वतंत्र भारत में आए ग्रामीण और

शहरी बदलाव को बड़ी मजबूती के साथ रखने के साथ-साथ भारतीय मानस के बेचैनी एवं आक्रोश को भी बड़े जीवित रूप में प्रस्तुत किया है । स्वातंत्र्योत्तर बिहार के अंचलों के लोगों की दुर्दशा, आशा, आकांक्षाएँ—आंचलिकताओं के सहारे उठाने की जो जबरदस्त कोशिश इन कहानीकारों ने की है, वह इस बात का प्रमाण है कि बिहार के नये कहानीकारों ने व्यक्ति के निजी दर्द को कथा में उभारने की जगह सामाजिक पीड़ाओं को कितनी प्रमुखता दी है । सामाजिक पीड़ाएं कहीं तो सीधे-सीधे व्यक्त हुई हैं, तो कहीं प्रतीक में, तो कहीं मिथ के सहारे । फैटेसी और दुष्टान्त कथा का प्रयोग इनकी कहानी शैलियों को जहाँ आधुनिकता प्रदान करते हैं, वहीं भाषा की आंचलिकता से इनकी कहानियाँ पाठकों से गहरी आत्मीयता से जुड़ने में हद से अधिक सफल हुई हैं । यह बताने की जरूरत नहीं कि सामाजिक परिवेश को ठीक-ठीक व्यक्त करने वाले पात्रों के चयन में ये कहानीकार जितना सजग रहे हैं, उतना ही अपनी कहानियों के रचनात्मक परिवेश के प्रति भी । यही कारण है कि आधुनिक बिहार में लिखी जा रही हिन्दी कहानियाँ न केवल विषयवस्तु के स्तर पर, बल्कि शिल्प के स्तर पर भी मजबूती के साथ मन को बांधने वाली कहानियाँ हैं ।

बिहार में हिन्दी कहानी-लेखिकाएँ की कड़ी भी काफी मजबूत हो गई है । वैसे इनके कथा-साहित्य में घर के भीतर फँसी, अस्त-व्यस्त होती स्त्रियाँ और उस दमघोट परिवेश को जीने के लिए लाचार नारियों की कहानियाँ ही अधिक हैं । नारियों की स्थिति को जितनी निकटता से देखने और ईमानदारी के साथ उसे अभिव्यक्ति देने की कोशिश बिहार की महिला कहानीकारों ने की है, वह हिन्दी कहानी-साहित्य को गौरवान्वित करनेवाली ही हैं । बिहार की कहानी लेखिकाओं में—ऋता शुक्ला, स्वर्णा सिन्हा, कनकलता, अनामिका, उषा किरण खान, मृदुला शुक्ला, आभा पूर्वे, कविता वर्मा, बिन्दु सिन्हा, शांता सिन्हा, अनुराधा शंकर, कांता सुधाकर, विनीता अग्रवाल, विद्या रानी, नीलम महतो, निर्मला ठाकुर, विभा रानी सिन्हा, रीता सिन्हा, निरोज सिन्हा, सुमन सरीन के अतिरिक्त अन्य कहानीकारों में सुभद्रा मिश्र, सुधा, वीणा सिन्हा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । आखरी तीन नाम प्रव्रजित कथा-लेखिकाओं की सूची के हैं, जिनकी कर्मभूमि पूरी तरह से बिहार रहा है । अब तक इन कथा-लेखिकाओं के जो बहुचर्चित कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, उनमें कुछ प्रमुख और लोकप्रिय संग्रह हैं—दंश, अग्निपर्व, मानुष तन (ऋता शुक्ला), यादों का कारवां (कनकलता), अपना सच (कांता सुधाकर), विवश विक्रमादित्य (उषा किरण खान), तुम लौट जाओ वसन्त (मृदुला शुक्ला), प्रतिनायक (अनामिका), शिरीष की सुधा, चन्दन जल न जाए (आभा पूर्वे), पिछले सितम्बर में (शांता सिन्हा),

विवश, मुट्ठी का गुलमोहर (निरोज सिन्हा), लहरों के खम्बे (सुधा), आज का वाल्मीकि (नीलम महतो) ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बिहार की इन महिला कथा-लेखिकाओं ने जिस तरह भरे-पूरे परिवार और समाज के बीच औरतों की पीड़ाओं, उसकी हँसी-खुशी को पकड़ने की कोशिश की है, उससे कम अपनी खुली आँखों से घर के बाहर भी देखने का प्रयास नहीं किया है । यही कारण है कि ऋता शुक्ला, मृदुला शुक्ला, उषा किरण खान, आभा पूर्वे के अतिरिक्त अन्य अधिकांश कथा-लेखिकाओं की कहानियों में घर के बाहर हो रही अमानवीय घटनाओं की जीवित तस्वीरें मौजूद हैं ।

कहानी-लेखकों की तरह लेखिकाओं ने भी बदलते सामाजिक मूल्य के संदर्भ में स्त्री-पुरुष के नये सम्बन्धों को लेकर ढेर सारी सशक्त कहानियाँ लिखीं हैं । लेकिन यह भी सही है महानगरीय जीवन को लेकर राजकमल चौधरी ने जिस स्त्री-पुरुष-संबंध वाली कहानियों को सृजित कर सम्पूर्ण हिन्दी कथा-साहित्य को आन्दोलित किया, उसका वैसा उन्मुक्त प्रवाह बिहार के किसी भी कहानीकार में नहीं मिलता, छिट-पुट उदाहरणों को छोड़कर; महिला कथाकारों में तो एकदम नहीं । सच तो यह है कि बिहार के हिन्दी कथा-लेखकों ने महानगर की जगह नगर और नगर से भी अधिक ग्रामीण अंचलों के यथार्थ को ही अपनी कहानियों का आन्तरिक संसार बनाया है, जो संसार इनके कहानी-साहित्य के संरचनात्मक संसार को उसी मिजाज के साथ प्रभावित करता है । और सब कुछ के साथ कहानी-लेखकों ने न केवल शताब्दियों से पीड़ित जनसमूह के बदलते विश्वास और उबलते आक्रोश को विश्वसनीय स्वर दिया है, बल्कि शताब्दियों की सताई नारियों की मुक्ति के लिए बिहार की कहानी-लेखिकाओं ने भी । मृदुला शुक्ला की कहानी के शीर्षक में ही कहूँ तो कहूँगा कि नयी सामाजिक चेतना के कारण स्त्रियों की 'अंधेरे में लड़ाई' को काफी विश्वास के साथ कहानी लेखिकाओं ने व्यक्त किया है । आभा पूर्वे की कहानी 'और धनेसरी आजाद हो गई' नारियों की आजादी के साथ-साथ पुराने कथा-संस्कारों से बिहार की कथा लेखिकाओं की आजादी की भी कहानी है ।

('साहित्य सांरांश', मुम्बई, सितम्बर २००३-फरवरी २००४)

भवप्रीतानंद ओझा : भक्ति गीतों के यशस्वी गायक

विमल विभूति बूढ़ें बरद बहनमा से
लम्बे-लम्बे लट लटकावै बाबा बासुकी
निपुत्र कें पुत्र देतें निर्धन कें धन देतें
कोढ़िया सुंदर तन पावै बाबा बासुकी

यह गीत उस अमर भक्त कवि की रचना है, जिसने तांत्रिकों की सिद्धपीठ और देवस्थली देवघर के ज्योतिर्लिंग मंदिर के सरदार पंडा की गद्दी को अपने आध्यात्मिक तेज से आलोकित ही नहीं, बल्कि अपनी अदभुत् काव्य-चेतना से भारत के सम्पूर्ण पूर्वांचल को आंदोलित भी किया—जिसे पूर्वांचल का लोकमानस भक्तराज भवप्रीतानंद ओझा या द्वितीय शिव के नाम से जानता है ।

द्वितीय शिव । अपनी वेशभूषा से भवप्रीता शिव के ही अवतार लगते थे—गौर वर्ण, उन्नत ललाट, त्रिपुण्ड मंडित भाल, गले में रुद्राक्ष की मालाएँ, मालाओं के बीच रत्नों के हार और बाँहों पर रुद्राक्षों के ही बाजूबंद—एकदम द्वितीय शिव ।

ऐसे ही भक्तकवि ओझा जी का जन्म ई. १८८६ में सुख और समृद्धि से सम्पन्न सरदार पंडा के परिवार में हुआ था । लेकिन भाग्य का कुछ ऐसा चक्र चला कि बालक भवप्रीता के पितामह पं. शैलजानंद ओझा आर्थिक विपन्नता से ग्रस्त होने लगे और ऐसी ही स्थिति में भवप्रीता जी को अपने पिता त्रिपुरानंद ओझा और माता नूना देवी से महाकाल ने सदा के लिए अलग कर दिया । माता-पिता के स्नेह से वंचित भवप्रीता अभी अपना भविष्य भी ठीक से नहीं देख पाए थे कि पितामह शैलजानंद ओझा भी पंचतत्व को प्राप्त कर गए ।

दरिद्रता की दीवार और भी ऊँची हो गई थी और भविष्य के सारे रास्ते जैसे बंद-से हो गये थे । सरकारी नौकरी हो नहीं सकती थी, क्योंकि आर्थिक विपन्नता के कारण स्कूली शिक्षा के बाद ही शिक्षा रुक गई थी । एक रास्ता था—सरदार पंडा की गद्दी को पुनः हासिल करना, जो उनके परिवार से छिन गई थी, पर जिसे पाना सहज नहीं था । नियति को स्वीकारते हुए भवप्रीता जी पत्नी नंददुलारी देवी के साथ देवघर से ही सटे रामपुर ग्राम आ गये और अपने लिए ईंट-फूस का एक घर बना लिया ।

रामपुर ग्राम—संतालों, घटवारो और प्रकृति का सुंदर घर । मादल, बाँसुरी और कीर्तन-भजन ने भवप्रीता के मन में कवि की भावुकता को जन्म दिया और अपने

समस्त दुखों को भुला कर उन्होंने कृष्ण-राधा के पदों को रचना शुरू किया ।

सुनी बाँसुरी शबद, हिया उठलै दरद
राम, गेलौं कुंज गलियां
बींधै तीरें मदन खेअलिया हो राम
मिले लागी मोहन साँवलिया हो राम ।

शीघ्र ही भवप्रीता के माधुर्य रस वाले गीतों का जादू चारो दिशाओं में फैलने लगा, जिससे मोहित हो मंदार के लक्ष्मीपुर इस्टेट घटवाल नरेश प्रताप नारायण सिंह ने उन्हें अपने राजभवन में आश्रय दिया, जीवन-रक्षा के लिए जमीन दी, वेतन भी जारी किया, लेकिन नरेश के निधन के साथ ही भक्त कवि का असम्मान जैसे जीवित हो उठा । लेकिन तभी भवप्रीता के गीतों से मुग्ध जामताड़ा के नरेश श्री श्यामलाल सिंह ने उन्हें अपने राजभवन में बुला लिया । प्रतिष्ठा और सुख के दिन पुनः लौटे, लेकिन काल की क्रूर गति वैसी ही बनी हुई थी । नरेश श्यामलाल सिंह का भी निधन हो गया । यह वह समय था, जब भवप्रीता जी सरदार पंडा की गद्दी के लिए संघर्ष तो कर रहे थे, लेकिन उनके गीत हाजरा जैसे प्रख्यात गायक के कंठ का सहयोग पा कर पूरे पूर्वांचल को भावमुग्ध कर रहे थे ।

हाजरा के कंठ से ही भक्त कवि के गीतों को सुनकर मानभूमि के नरेश ज्योति प्रसाद सिंह ने ससम्मान भवप्रीता जी को अपने दरबार में बुला लिया था, जहाँ संगीत और काव्य प्रेमियों की जमघट लगी रहती थी । ओझा जी की आर्थिक विपन्नता से परिचित नरेश ज्योति प्रसाद जी ने उनके लिए देवघर मंदिर से सटे, न केवल एक मकान खरीद दिया, बल्कि, सरदार पंडा की गद्दी प्राप्त करने के लिए आर्थिक मदद भी दी । नरेश ने स्वयं कलकत्ता न्यायालय से नियुक्त आयोग के समक्ष अकाट्य तर्क प्रस्तुत किया, जिसके फलस्वरूप ही ई. १९२९ में साढ़े बयालीस वर्ष की उम्र में भवप्रीतानंद ओझा सरदार पंडा की गद्दी पर आसीन हुए ।

देवघर मंदिर के सरदार पंडा होने के बाद भी वे अपने अतीत को नहीं भूल पाए—न रामपुर का प्राकृतिक सौन्दर्य, न घटवालों की वह वैष्णव भक्ति, न अपनी गरीबी की क्रूर लीला । तभी तो सरदार पंडा होने पर उन्होंने अपने रहने के स्थान को प्रकृति के सौन्दर्य से सजाया, जहाँ वन-पक्षियों का शोर होता रहता और जहाँ भक्त कवि भवप्रीता शिव की आराधना में रचित अपने पदों को संगीत देते । लेकिन यह भी सही है कि भवप्रीता जी पूर्ण शैव होते हुए भी उन्होंने न तो शाक्त भक्ति के प्रति अरुचि दिखाई और न ही निर्गुणोपासना के प्रति । कहते हैं, भवप्रीता जी को देवी दुर्गा का साक्षात् दर्शन हुआ था । लेकिन भवप्रीता जी सबसे पहले शैव थे । इनके भक्ति गीतों में शिव की करुणा ही नहीं, उनके योगीवाले शरीर की भी सुन्दर

छवि खिली हुई है,

भांगे-आँखी ढुलू-ढुलू, जटा नीचे गंगा कुलू-कुलू
ईश्वर शिव सुन्दर हमे गौर कलेवर, दोहा पर साँप छुलू-छुलू
कपारें किशोर चंदा, डांढ़ा बांध-छाल बांध
कान में धतूरा झूलू-झूलू ।

भवप्रीतानंद ओझा के गीत अंगिका और बंग्ला लोकभाषा में रचित हैं । डॉ. डोमन साहु 'समीर', डॉ. माहेश्वरी सिंह 'महेश' ने इनकी काव्य-भाषा को अंगिका कहा है, जबकि देवघर विद्यापीठ पत्रिका के संपादक डॉ. मोहनानंद मिश्र ने इसे 'देवघरिया अंगिका' कहा है । जो हो, इनके गीतों के गायक तो समस्त पूर्वी भारत के भक्त लोग हैं । इसीसे इनके गीतों की भाषा पर अन्य लोकभाषाओं के भी रंग चढ़े मिलते हैं । इनके गीतों में अंग जनपद के आंचलिक मेलों की कभी न खत्म होने वाली सुगंध व्याप्त है । ईस्वी १९७१ में ऐसे ही इस महान भक्त कवि ने इस संसार से हमेशा के लिए विदा ले लिया, लेकिन इनके लोकगीत हवा-पानी की तरह जरूरी हो गए हैं । लोकमानस के लिए तो जैसे संजीवनी बन गए हैं । कहते हैं—भवप्रीता के गीत गाए बिना न तो कमरथुआ यात्रा पूरी होती है, न भोले बाबा रीझते हैं ।

('दैनिक जागरण' भागलपुर, २६ अक्टूबर २००४)

मिला था शाम मुझे इक बुझा हुआ चेहरा

धूप में बारिश होते देख के हैरत करने वाले
शायद तूने मेरी हंसी को छू कर कभी नहीं देखा

परवीन शाकिर की ये पंक्तियाँ हठात् ही मुझे याद आ गईं, जब पूरी तरह से अविश्वसनीय लगने वाली और हिला देने वाली खबर मिली कि राम बाबू हमारे बीच नहीं रहे । शाकिर की इन पंक्तियों में मुझे हमेशा राम बाबू झाँकते मिले हैं ।....ठीक महीने भर पहले उन्हें भीखनपुर गुमटी नं. एक से नीचे उतरते देखा था, आनंदबाग की ओर जाने वाली सड़क पर । मैंने नहीं देखा था, उन्होंने ही देखा था और एक हल्की आवाज में मुझे रोका था । मैं उनके साथ ही उनके घर की ओर मुड़ने वाली गली तक गया था और महसूस किया था कि इतने सालों के बाद भी उनकी तरलता-सरलता में कहीं से कोई कमी नहीं आई थी और न उनके मन पर जमा हुआ-सा वह पहले वाला दवाब भी कहीं से कुछ कम हुआ था । साथ ही होठों पर वही हल्की मुस्कान । शायद मेरी उनसे वह मुलाकात तीन सालों के बाद की थी । बोलते तो पहले भी वह कम थे, इसीसे उस दिन भी राम बाबू से बहुत बातें हुई थीं, ऐसी बात नहीं । मैं ही कुछ-कुछ बोलता रहा था और अलग होने से पहले मैंने ही पूछा था—अभी तो नौकरी में हैं न ? राम बाबू ने मुझे देखा था और 'हाँ' में सर हिलाने के साथ अपनी खामोशी से यह भी कह गये थे,

कहाँ से आती किरण जिन्दगी के जिन्दा में
वह घर मिला था मुझे जिसमें कोई दर ही न था

मैंने उनसे दो दशकों की घनिष्ठता के बीच यह कभी नहीं पूछा कि उन्हें जिन्दगी जेल क्यों लगती है, जहाँ एक भी दरवाजा न हो । कभी कथाकार मित्र सदाशिव सुगंध ने मुझसे बताया था कि मेरे पिता की मृत्यु के बाद राम बाबू के कारण ही बिखरते वर्मा ब्लॉक सेंटर को एक मजबूत आधार मिल गया था और सदाशिव सुगंध से ही पहली बार मैंने यह भी जाना था कि 'लागी नाहीं छूटे राम' के साथ कई भोजपुरी फिल्मों के पोस्टरों का निर्माण राम बाबू ने ही बम्बई जाकर किया था । शायद यह इसलिए संभव हो पाया था कि उस समय के प्रसिद्ध भोजपुरी अभिनेता तिवारी जी से राम बाबू की काफी घनिष्टता थी । आधी शती पूर्व उन्होंने उस समय की प्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका 'धर्मयुग' के लिए भी चित्र बनाए थे जो उस पत्रिका में प्रकाशित भी हुए थे । मैंने उनके पास पड़े धर्मयुग के उस अंक को देखा था और जब मैंने उनसे पूछा था कि अब ऐसे चित्र वह क्यों नहीं बनाते, तो उन्होंने

अपनी कठिन गृहस्थी की ओर संकेत में बताया था और संकेत में ही मेरे सवाल का जवाब भी दे गये थे,

मेरी गिरफ्त में आकर निकल गई तितली
परों के रंग मगर रह गये हैं चुटकी में

शायद परों के रंग को तितली में फिर से बदलने के लिए ही राम बाबू सुगंध के साथ दिल्ली, राजस्थान, मद्रास, शिवाकाशी, बेंगलूर, त्रिवेन्द्रम, कलकत्ता की उन-उन जगहों तक गये, जहाँ प्राचीन और आधुनिक कलाओं का संगम था । इस यात्रा ने उनमें कुछ नया कर गुजरने की इच्छा पैदा कर दी थी । ख्यातिप्राप्त फोटोग्राफर रंजन कुमार बताते हैं कि राम बाबू को भागलपुर विश्वविद्यालय के डिजाइन संबंधी कार्यों से जोड़ने का श्रेय प्रसिद्ध चित्रकार समियार साहब को है, लेकिन पुस्तक के लिए आवरण तैयार कर लोकप्रिय होने का मौका तो उनको उर्मिला प्रकाशन के मालिक गुप्ता जी ने ही दिया और वहीं से वे नगर के साहित्यकारों के बीच लोकप्रिय होते गये । फिर तो उन्होंने नगर के लेखकों की पुस्तकों के लिए ही आवरण चित्र ही नहीं बनाए, बल्कि उस समय की लोकप्रिय पत्रिका परिणिता, आलोक, उल्लू और शिरीष कथा के लिए भी चित्र बनाये । शिरीष कथा के तो वे कला निदेशक ही थे । इससे उन्हें गहरा संतोष मिलता ।

खलीफाबाग के वर्मा ब्लॉक सेंटर में बैठे घंटों तल्लीनता के साथ रेखाचित्रों को रंगों से उभारा करते, इतने तल्लीन कि खपरैल की उस कोठरी में असह्य गर्मी और ठंडक का उन्हें अहसास तक नहीं होते देखा था मैंने । हो सकता है, पुराने कुछ लोगों को छोड़कर बांकी अब राम बाबू को उनके जीवन काल में ही भूल-से गये हों । भूलने के लिए तो शायद इस शहर ने रोबिन दा, एन. एन. सिंह, मथुरा प्रसाद, सुचारु घोष, प्रभाष चन्द्र घोष, डॉ. एन. अग्रवाल, मातादीन वर्मा, प्रो. जे. राव, नंद गोपाल राय, बाबू सत्याग्रह सिंह और अनंत बाबू जैसे चित्रकारों को भी भुला दिया होगा, तब पटना के बिहार शरीफ में ई. १९४५ में जन्मे और १९६५ में राजेन्द्र कृषि कालेज सबौर के मिट्टी-सर्वेक्षण-विभाग में कलाकार के पद पर नियुक्त राम बाबू से इस शहर का अपरिचय ही बना रहा, हो तो आश्चर्य भी नहीं; उस राम बाबू यानी राम प्रसाद साह से, जिन्होंने पटना प्रवास के दिनों में ही, अपने समय में, अपनी पेंटिंग पर स्वर्ण पदक का राष्ट्रीय अवार्ड हासिल किया था । लेकिन इन बातों से बेखबर राम बाबू चार दशकों तक इस नगर में रहते हुए रंगों का उत्सव मनाते रहे । मंजूषा कला के लिए प्रतिबद्ध नये कलाकारों की बात पर उन्हें गहरी खुशी होती । कोई नया चित्रकार मिलता तो मुस्कुराहट में कहते,

बंधा हुआ है बहारों का अब वहीं तांता

जहाँ रुका था मैं कांटे निकालने के लिए

और जब बीते सोमवार को टेलीफोन पर सदाशिव सुगंध ने ही बहुत भरे-भरे स्वरों में बताया कि रविवार २२ जून को राम बाबू गुजर गये, तो जैसे कुछ पलों के लिए मेरी देह से सारा खून ही निचुड़ गया था । देर रात तक आँखों में भीखनपुर की दो नम्बर गुमटी से नीचे उतरते एक उदास चेहरे की छाया उतरती रही और मैं अपने आप से ही कहता रहा,

मिला था शाम मुझे इक बुझा हुआ सूरज
मैं उसके बाद कभी रोशनी न देख सका ।

('दैनिक जागरण' भागलपुर, ३१ मई २००५)

डॉ. तेजनारायण कुशवाहा
एक भोजपुरी का अखंड अंगिका प्रेम

कुशवाहा जी से पूछा कि आप तो हिन्दी, भोजपुरी के भी उतने ही बड़े साहित्यकार है, जितने बड़े जानकार बंगला और संस्कृत भाषाओं के, वैसे मैंने यह भी सुना है कि आप मराठी, गुजराती, नेपाली और मलयालम को भी ठीक से पढ़ और समझ लेते हैं, तब ऐसा क्या हुआ कि आप की पहली प्रतिबद्धता अंगिका भाषा और साहित्य के साथ बनी ? तो उन्होंने मुस्कुराते हुए कवि के अन्दाज में कहा,

यही रास्ता है अब यही मंजिल
अब नहीं दिल किसी बहाने लगे ।

अभी मैं उनसे कुछ और पूछता कि उन्होंने दो पंक्तियाँ और कहीं,

इन आँधियों में न जाने किधर से आ जाए
मैं जा रहा हूँ हर इक सू दिया जलाए हुए ।

यही हैं डॉ. तेजनारायण कुशवाहा । अंगिका भाषा के सम्पूर्ण विकास के लिए, सभी रास्तों पर दिए जलाए जा रहे हैं । कौन जानता है, इस भाषा का भविष्य किस दिशा में लिखा हुआ है ।

अंग जनपद के मेहरामा अंचल के सिंघाड़ी ग्राम में एक भोजपुरीभाषी परिवार में डॉ. कुशवाहा का जन्म २४ अप्रैल ई. १९३३ में हुआ । माँ से मिली भोजपुरी भाषा और अंचल ने दी अंगिका भाषा । आँखें खोलीं तो इनके सामने अंगिका का फैला संसार था; बड़े हुए तो अपने चारों ओर अंगिका के सिद्ध कवियों का फैला प्रकाश देखा । उससे परिचित हुए और उम्र के चढ़ाव के साथ-साथ कुशवाहा जी अंगिका भाषा और साहित्य की खोज में ही नहीं, इसके नवोत्थान के आन्दोलन और पुनर्मूल्यांकन से भी जुड़ गए । इन्होंने सिद्धों और उनके साहित्य पर ही साहित्य नहीं लिखा, अंग जनपद के भूगोल को वेदों, पुराणों, इतिहासों से खंगाल निकाला । 'अपभ्रंश काव्य में अंग प्रदेश-वर्णन', 'बौद्धकालीन चम्पा' जैसे गद्य लेख ही इन्होंने नहीं लिखे, अंग के भूगोल को गीतिकाव्य में भी प्रस्तुत किया, नाम दिया उसे 'अंग दर्शन' । इस कृति से मुग्ध होकर कभी विद्वान आलोचक डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु ने लिखा था—'अंग दर्शन' अंगिका के महत्वपूर्ण ग्रंथ छेकै ।'

ऐसे तो डॉ. कुशवाहा जी की साहित्य-साधना का प्रारंभ खड़ी बोली में काव्य-सृजन से हुआ । 'ओमा' (१९६१) खड़ी बोली में ही सृजित इनका पहला प्रबंधा-काव्य है । वैसे, जब कवि मिडिल स्कूल के ही विद्यार्थी थे, तब महाप्रभु चैतन्य

के जीवन और उनके दर्शन से इतने प्रभावित हुए कि बाद में उन्होंने चैतन्य के जीवन पर एक लम्बी कविता का ही सृजन किया, जो 'निमाई उदय' के नाम से कहलगांव से प्रकाशित होने वाली 'शारदा' पत्रिका में ई. १९५१ में ही प्रकाशित हुई थी । छायावाद की काव्यशैली और उसके सौन्दर्य-बोध से रमणीय है यह लघु काव्य प्रबन्धा,

यौवन-राग-विराग बहाती
आई मलने रोली
प्राची शिशु सविता-कर ने
मुसकाई वारिज-चोली ।'

साहित्य का भी सृजन करते रहे और विद्याध्ययन भी । बि. वि. वि. से एम. ए. हिन्दी में किया, फिर भा. वि. वि. से संस्कृत में एम. ए. । साहित्यालंकार हुए, आयुर्वेदाचार्य की उपाधि से अलंकृत हुए, तो साहित्य वाचस्पति से भी डिप. एन. एड. किया । फिर भा. वि. वि. से १९७१ में पी. एच. डी. की उपाधि से भी अलंकृत हुए । लेकिन यह भी सच है कि उन्हें हिन्दी और संस्कृत के लिए सम्मानित जरूर किया गया, लेकिन रचनाएँ उन्होंने की ज्यादा लोकभाषा में ही । उनकी भोजपुरी कविताओं का एक संग्रह 'गीत चिरई के' भी प्रकाशित हुआ है । भोजपुरी तो खैर उनकी मातृभाषा ही है, लेकिन इन्होंने किसी भी लोकभाषा से अपने को अलग नहीं रखा, इसका कारण है, उनका एक विश्वास,

'एक बहन हम सब भाषाएँ
अपना भारत देश है ।'

फिर भी इन्होंने अखंड साहित्य-साधना जिस भाषा के जीवन के लिए किया, वह है अंगिका । इसके लिए इन्होंने न केवल 'अंगिका साहित्य केरॉ इतिहास' और 'अंगिका भाषा का इतिहास' ही लिखा, जो साहित्य अकादमी हैदराबाद से प्रकाशित है, बल्कि इसी भाषा में 'सवर्णा' जैसे महाकाव्य का सृजन भी किया, जिसे पढ़कर भोजपुरी के विद्वान लेखक विवेकी राय ने इसे अंगिका की गंगा कहा और प्रख्यात विद्वान डॉ. छविनाथ मिश्र ने कामायनी की पूर्वकथा । भाषाविद् डॉ. उदय नारायण तिवारी 'सवर्णा' के प्रकृति-चित्रण पर झूमे तो महेन्द्र जायसवाल इसके विचार-दर्शन पर । यह सवर्णा की ही अपनी उद्दात्त छवि रही है कि बाद में प्रकाशित होने वाली अंगिका काव्यकृतियाँ 'माद्री' और अंगिका एकांकी-संग्रह 'सौर सुरभि' उस तरह की चर्चा नहीं पा सकीं । वैसे ये दोनों ही कृतियाँ अंगिका के साहित्य-परिवार में सूर्य और चन्द्र की तरह हैं । अंगिका के प्रति इनकी इस समर्पित अखंड साधना को देखकर इनको अंगिका-सेवा के लिए कर्ण पुरस्कार, भवप्रीता

पुरस्कार, बलिनारायण पुरस्कार, ग्रियर्सन पुरस्कार, से सम्मानित किया गया और लोगों ने इस क्रम में लगभग यह तो भुला ही दिया कि डॉ. तेज नारायण कुशवाहा के न केवल 'अंगिका की रूप-रचना', 'अंगिका काव्य शास्त्र' 'अंग महाक्षेत्र और अंगिका' जैसे मूल्यवान ग्रंथ ही प्रकाशन के बाट नहीं जोह रहे हैं, बल्कि इनका शोध प्रबंध 'भारतीय वाङ्मय में उर्वशी साहित्य' भी अप्रकाशित रूप में ही पड़ा हुआ है, जिस शोधप्रबंध में गंभीर खोज और विवेचना को देखकर उर्वशीकार रामधारी सिंह 'दिनकर' अगर अभिभूत थे, तो प्रख्यात कवि शिवमंगल सिंह सुमन भी । विभिन्न भाषाओं से रस निचोड़ कर निकाला गया रसायन है डॉ. कुशवाहा का 'भारतीय वाङ्मय में उर्वशी साहित्य' ।

डॉ. तेजनारायण की जिस काव्य-कृति 'प्राच्य दर्शन' को पढ़कर डॉ. धीरेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री विष्मयविमुग्ध थे और जिनकी काव्य प्रतिभा से हंसकुमार तिवारी अभिभूत और जिनके बारे में डॉ. माहेश्वरी सिंह 'महेश' ने लिखा कि 'कुशवाहा जी अंगिका के महाप्राण छिकात' और विद्वान चिन्तक डॉ. राम जी सिंह ने यह लिखा है कि कुशवाहा जी में केवल एक ही आसक्ति रह गई है, वह है अंगिका के प्रति । वैसे महाकवि डॉ. कुशवाहा जी को जब कभी अपने सामने पाया हूँ, तो कहना ही पड़ा है,

शेर कहने को तो हमने भी कहे हैं नूरी
ये जो खामोश-सा बैठा है, सुखनवर है वही ।

('दैनिक जागरण' भागलपुर, १३ सितम्बर २००५)

'सरल' सचमुच में सरल थे

गुरेश मोहन घोष सरल जी के लिए अंगिका के प्रत्येक साहित्यकार के मन में कई-कई संस्मरण हैं, जो अब लोकगाथा के पन्नों की तरह खुलते हैं और सुनने वाले के मन को सभी रसों की धाराओं से बांध लेते हैं । लोकप्रिय कवयित्री सान्त्वना साह सुनाती हैं कि किस तरह जेठ-बैसाख की लू में सरल जी ललित भवन के बगीचे वाले भाग में बैठे रहे—आयुक्त दीपिका पड्डा को अंगिका की जानकारी देने के संदर्भ में । गजलकार सत्यानंद कहते हैं, ''कवि-सम्मेलन में मुझे मंच-संचालन का भार सौंप कर सरल जी जाना चाहते थे । मैंने कहा, 'अध्यक्ष होने के नाते आपको मंच पर रहना चाहिए', यह तो मैंने ऐसे ही कह दिया था, लेकिन तबीयत खराब रहने के बावजूद आखिर तक सरल जी मंच पर बने ही रहे । सरल जी, सचमुचे में बड्डी सरल छेलै ।''

लेकिन सरल जी भारत में ब्रिटिश सरकार के लिए कभी सरल नहीं रहे । १९४२ का माहौल, सरल जी सातवीं कक्षा के थे । जयप्रकाश नारायण के पर्चे बटे और सरल जी आजादी के संघर्ष में शामिल हो गये ।

१५ जनवरी १९२८ को बांका जिला के जानकीपुर ग्राम में जन्मे गुरेश मोहन घोष 'सरल' अगस्त क्रांति १९४२ के छात्र नेता बने और जगह-जगह जाकर उन्होंने क्रांतिकारियों का नेतृत्व ही नहीं किया, आजादी के लिए क्रांति-गीतों का सृजन भी किया । तब सरल जी का राष्ट्रप्रेमी मन उनकी कविताओं में मेघ स्वर में बज रहा था ।

आजादी मिली और उन्होंने राष्ट्रनिर्माण के लिए अपने जीवन को समाज-निर्माण में लगा दिया । इसके लिए उन्होंने ई. १९५३ में 'ग्राम निर्माता' हिन्दी त्रैमासिकी का संपादन किया । आजादी के दिनों की संघर्ष-कथा के कुछ अंशों को उन्होंने अपनी पुस्तक 'जो रे तहिया' में लिखा है । सरल जी द्वारा लिखित साहित्य बहुत अधिक नहीं हैं । जिनका जीवन ही समाज में जागरण का संदेश देते चलना था, उनको साहित्य लिखने का समय ही कहाँ था । कभी उन्होंने देश की आजादी के लिए संघर्ष किया था और फिर आजाद भारत में अपनी मातृभाषा अंगिका की पूर्णमुक्ति के लिए संघर्षरत रहे । मातृभूमि से मातृभाषा तक की मुक्ति की एक कथा हैं गुरेश मोहन घोष 'सरल' । इनके 'गुमार' काव्य-संग्रह में जिस तरह देश की आजादी को बांट खाने वाले लोगों पर व्यंग्य के बरसते तीखे बाण हैं, वैसा ही उनका संपूर्ण जीवन अंगिका-संगठन के नेतृत्व-क्रम में कड़े अभिभावक का रहा ।

१० नवंबर २००५ की रात । ठीक तीन बजे टेलीफोन की घंटी बजी । आशंकाओं का बवंडर । टेलीफोन पर सच्चिदानंद श्रीस्नेही की भर्राई आवाज—'सरल जी नै रहलात' फिर तो तुरत-तुरत करुणा से भींगी आवाज आने लगीं । अमरपुर से नरेश जनप्रिय—'अंगिका के आधार स्तंभ गिरी पड़लौं ।' डॉ. मधुसूदन झा ने व्याकुल होते हुए कहा, 'अंगिका के अवधूत कवि सें हमरों साथ छूटी गेलों ।'

दिन भर टेलीफोन की घंटियां गूंजती रहीं । बांका उदास था, खगड़िया उदास था, मुंगेर उदास था, गोड्डा, दुमका, देवघर उदास थे और भागलपुर एकदम से हतप्रभ । दिन भर करुणा, शोक, संस्मरण की भीड़भाड़ ।

सरल जी की अर्थी आई, कवि-समाज को कभी इतना व्याकुल नहीं देखा था । घाट तक गये थे शोक से बोझिल श्री स्नेही, दिनेश तपन, त्रिलोकीनाथ दिवाकर, राजकुमार, पारस कुंज, धीरज पंडित और डॉ. मधुसूदन झा—अपनी श्रद्धा निवेदित करने के लिए । रात के अंधेरे में जब सरल जी की निस्पंद काया अग्नि की लपटों के बीच शेष हो रही थी, तब भी उस चिता-भूमि में गुरेश मोहन घोष सरल की कविताएँ गूंज रही थी । आकाशवाणी के दो कवि डॉ. विजय मिश्र और सांत्वना साह ने उनकी पूर्व प्रसारित कविताओं को श्रद्धांजलि में प्रसारित किया था और मेरी आँखों के सामने सरल जी के निवास-स्थल पर रखी गयी उनकी अर्थी पड़ी थी, जिसके सामने खड़ा वह व्याकुल युवा कवि सरल जी की इन पंक्तियों को पढ़े जा रहा था, एकदम अवरुद्ध कंठ से,

'उत्तर में छौं शिव के गंगा
दक्खिन कोना भैरो नंगा
पछियें कलकल करै बेलासी
समरों पूबें झिल्ली नाँव
घुरी जा जल्दी आपनों गाँव ।'

('दैनिक जागरण' भागलपुर, २६ नवम्बर २००५)

शताब्दियों के सफर का शिलालेख

तब शैलेन्द्र श्रीवास्तव तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति थे । चाहते थे, शिक्षा के साथ साहित्य के भी बन्द द्वार खुले । उनकी आँखों में प्राचीन विक्रमशिला बौद्ध-विहार की छवि घूमती—उस बौद्ध-विहार की, जहाँ कभी ज्ञान के साथ साहित्य की गलबाँही शताब्दियों चली । क्या ऐसा ही नये अंग के नये विश्वविद्यालय के बीच भी नहीं हो सकता ? शायद इसी सपने ने उन्हें विवश भी किया हो—साहित्य पर नये सिरे पर चर्चा के लिए । कथा-गोष्ठी से यह चर्चा शुरू भी हुई । कथाकार श्रीकेशव ने मुझे बताया था कि उनकी उपस्थिति में डॉ. बेचन, डॉ. एम. क्यू. तौहिद, डॉ. शीतल अवस्थी, डॉ. मनाजिर आशिक हरगानवी की वह कथा-चर्चा कितनी सुखद और ज्ञानपूर्ण थी । श्रीकेशव ने यह भी बताया था कि गोष्ठी के अन्त में शैलेन्द्र जी ने कहा था—अंग की मिट्टी पर कथा-गोष्ठी हो और अंगिका-कहानी न पढ़ी जाय, यह विरोध से भरा है । हमें हिन्दी-गोष्ठी में अंगिका को शामिल करके चलना है ।

जब सुना कि १२ फरवरी २००६ को शैलेन्द्र श्रीवास्तव का निधन हो गया तो, हठात् ही उस कथा-गोष्ठी का स्मरण हो आया और स्मरण हो आया पिछले कुछ दिनों पहले की बातें । शैलेन्द्र जी भागलपुर विश्वविद्यालय की एक महत्वपूर्ण बैठक को संबोधित करने २००५ में आये थे । संपादक राजेन्द्र सिंह गये थे मिलने युनिवर्सिटी गेस्ट हाउस । वहीं ठहरे थे वह । मुझे भी जाना था, न जा सका । बाद में राजेन्द्र सिंह ने मुझे बताया था कि किस तरह वह अंग-संस्कृति और अंगिका की समस्याओं को गंभीरता से सुनते रहे थे ।

राजेन्द्र की बातों पर अविश्वास करने का कोई सवाल ही नहीं था । मुझे मालूम है कि उनके कुलपतित्व-काल में ही वर्षों लंबित अंगिका-पाठ्यक्रम का मामला पहली बार बैठक में आ सका था । डॉ. तपेश्वर नाथ को उन्होंने अंगिका-पाठ्यक्रम-समिति का अध्यक्ष बनाया था, जिसका एक सदस्य मैं भी था । अंग और अंगिका के प्रति अपने मोह को बताते हुए श्रीवास्तव जी ने कभी साहित्यकारों के बीच कहा था, ''मैं अंग से कैसे कट सकता हूँ, जब ससुराल ही भागलपुर हो । मेरी सीता वीणा रानी कंठ तो आखिर यहीं की है ।''

उनकी आँखों में अंगिका का ही सपना नहीं फल-फूल रहा था, बहुत सारे सपने थे, जिसकी पूर्णता के लिए उन्हें जब भी देखा, बेचैन देखा । उन्हें बहुत दुःख होता कि जिस विश्वविद्यालय का नाम तिलका माँझी के नाम पर हो, और उसे

तिलक माँझी की एक मूर्त्ति नसीब न हो और जिस विश्वविद्यालय में कभी दिनकर कुलपति बनकर रहे, उसका स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग दिनकर जी की एक मूर्त्ति से खाली रहे—इसी बेचैनी ने उन्हें जयपुर जाने को विवश किया था और इस तरह विश्वविद्यालय परिसर में तिलक माँझी और स्नातकोत्तर विभाग के सामने दिनकर जी की मूर्त्ति भी स्थापित हो सकी—भले ही उनके यहाँ से चले जाने के बाद ।

बहुत मोह था शैलेन्द्र श्रीवास्तव जी को अंग की मिट्टी से—इसके दो-चार कारण ही तो नहीं थे—बहुत कारण थे । कभी टी. एन. बी. कॉलेज में भी वह हिन्दी के अध्यापक रहे और यहीं से बी. एन. कॉलेज, पटना गये थे । यह बात १९५७ और ५८ के आस-पास की है ।

बिहार के बेतिया जिले में जन्मे शैलेन्द्र श्रीवास्तव को अध्यापन का संस्कार तो विरासत में मिला था । इनके पिता मुरलीधर श्रीवास्तव स्वयं भी राजेन्द्र कॉलेज, छपरा में प्रोफेसर थे । कुशल अध्यापन की प्रतिभा इन्होंने अपने पिता से ही सीखी थी । इनकी आरम्भिक पढ़ाई तो वैसे छपरा में ही हुई थी, लेकिन आगे की पढ़ाई के लिए वह पटना प्रवास कर गए । पढ़ाई के दिनों में ही इनके मन का लेखक भी उठ बैठा था, जिसके साथ यह जीवन भर जुड़े रहे । निबन्ध-समीक्षाओं के साथ कविताओं का सृजन, इनका मन बन गया था । शायद यही कारण था कि इनके राजनीतिक जीवन पर कालिख की वह छाप नहीं लग सकी, जो राजनीति में आते ही लगती है । शैलेन्द्र जी पटना मध्य से कभी एम. एल. ए. भी रहे और भारतीय संसद में सांसद भी—उन्होंने राजनीति को राज्य की पवित्र नीति के रूप में ही ग्रहण किया, ऐसा था उनका व्यक्तित्व, जो किसी भी ऋषि-व्यक्तित्व का होता है । और उनके ऐसे ही व्यक्तित्व को 'पद्मश्री' के अलंकरण से भी अलंकृत किया गया था । अपने निश्चल अध्यापन और प्रशासन का उन्होंने तब भी अनूठा उदाहरण रखा था, जब वह अन्तर विश्वविद्यालय बोर्ड के अध्यक्ष थे । ऐसे ही नहीं 'संस्कार भारती' के राष्ट्रीय अध्यक्ष बनाये गये थे—शैलेन्द्र श्रीवास्तव ।

उनके मन में साहित्यकारों के लिए जितना सम्मान था, उससे सौ गुना ज्यादा देश के लिए । जब राष्ट्र पर कारगिल युद्ध थोपा गया था, तब उनका व्याकुल मन गोपाल सिंह 'नेपाली' की तरह बेचैन हुआ था । उनके सम्पादन में प्रकाशित काव्य-संग्रह 'कलम उगलती आग' उनके उसी व्याकुल मन की गूंज है । और यह भी सच है कि वह चाहे राजनीति के बीच रहे या अध्यापन में उलझे—लेखन को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा । मुझे शैलेन्द्र जी के निकट के एक व्यक्ति शशिभूषण प्रसाद ने बताया कि भारत सरकार ने जय प्रकाश नारायण पर लिखी उनकी एक पुस्तक का भी प्रकाशन किया है ।

अब तो शैलेन्द्र श्रीवास्तव जी की कृतियाँ और कथाएँ ही हमारे पास शेष हैं, जो कृतियाँ और कथाएँ राजनीति और साहित्य के अंधेरे रास्तों को रौशन करती रहेंगी । मुझे भी मालूम है कि शैलेन्द्र श्रीवास्तव की जड़ काया पटना के नया घाट पर शोकाकुल राजनेताओं और बन्धुओं के बीच पंचतत्व में विलीन हो गयी है, लेकिन पीछे से किसकी आवाज में उनकी आवाज आ रही है,

इन आँधियों में न जाने किधर से आ जाओ
मैं जा रहा हूँ हर इक सू दिया जलाए हुए ।

('दैनिक जागरण' भागलपुर, २१ फरवरी २००६)

यह सवाल सिर्फ अंगिका भाषा का नहीं है

अंग्रेजी के तथाकथित मुट्ठी भर हिन्दुस्तानी भक्त भले ही इस बात को नहीं समझे, लेकिन अंग्रेज भाषाविद् इस बात को भलीभांति समझते हैं कि किसी एक भाषा के साम्राज्य को स्थापित करने का षड़यंत्र और अन्य भाषाओं या लोकभाषाओं को दबाना कितना बड़ा अमानवीय और सामाजिक अपराध है, और इसी बात को ध्यान में रख कर अंग्रेजी भाषा के निर्वाध फैलाव पर चिन्ता प्रकट करते हुए डेविड क्रिस्टल ने लिखा कि जिस तरह अंग्रेजी का निरन्तर दवाब बनता जा रहा है, और इसके कारण अगर दुनिया की एक भाषा अंग्रेजी ही रह गई, तो वह दिन धरती के कल्पनातीत और भयावह बौद्धिक सर्वनाश का दिन होगा ।

इस बात को बिना समझे हिन्दुस्तानी अंग्रेज लोकभाषाओं को लीलने का जो तांडव कर रहे हैं, इससे कोई आश्चर्य नहीं कि हिन्दुस्तान की कई लोकभाषाएँ एक साथ सर्वनाश का शिकार हो जाए । वैसे भी लोकभाषाओं पर आज चौतरफा प्रहार किया जा रहा है । भोजपुरी की बात अलग है । अपनी मातृभाषा के प्रति लगाव जो भोजपुरी भाषियों में हैं, वह शायद किसी लोकभाषा के बोलने वाले में नहीं । मैं दूसरी भाषाओं की बात नहीं करना चाहता हूँ । बात यहाँ पर चार करोड़ के आस-पास के अंगिका भाषियों की है, जिनमें शायद दो करोड़ ही अंगिका का प्रयोग कर रहे होंगे । ये बोलने वाले वे हैं, जो खेतिहर मजदूर हैं, छोटे किसान हैं, ग्रामीण मजदूर हैं, या फिर ग्रामीण महिलाएँ । गरीब परिवार के बच्चे भले ही अंगिका भाषा में बोलते, कहते हों, लेकिन सभ्य होने का अभिनय करते ग्रामीण परिवार भी अब अपनी मातृभाषा अंगिका बोलने से कतराते हैं और अपने स्कूल जाते बच्चों से इतनी भद्दी हिन्दी बोलते हैं कि कानों में गला शीशा डाल देने की इच्छा हो । सवाल है कि यह हो रहा है क्यों ?

यह इसलिए हो रहा है कि लोग अपने बच्चों को तरह-तरह की अकादमियों और तरह-तरह के निकेतनों में डाल रहे हैं, ताकि अंग्रेजी और हिन्दी के साँचे में ढल कर वे बच्चे निकले । लेकिन ऐसा हो भी रहा है क्या ? यह तो बाद में विचारने की बात है । हाँ इससे इतना अवश्य हो रहा है कि बच्चे अपनी माँटी, अपनी माँ की भाषा को भूल रहे हैं, इसमें उनके माता-पिता भी मदद कर रहे हैं—इस्कूल में तो खैर उनकी मातृभाषा पर प्रतिबन्ध होता ही है । यह उन अकादमियों और निकेतनों के लिए इसलिए भी जरूरी है कि उन्हें अपना व्यापार चलाना है, इसीसे उन्हें सबसे पहले बच्चों की मातृभाषा को हेय ठहराना ही है । जब

तक वे ऐसा नहीं करेंगे, तब तक उन्हें अपने माल को बाजार में चलाने में दिक्कत होगी । आज अंगप्रदेश में अंगिका भाषा को ही नहीं, पूरे देश में लोकभाषाओं को दबाने की, उन्हें मिटाने की जो बड़े पैमाने पर राजनीति चल रही है, उसके पीछे यही बाजारवाद है । जिससे अंगप्रदेश में ही नहीं, पूरे देश के प्रदेशों में एक अजीब सांस्कृतिक संकट पैदा हो गया है । कोई शक नहीं कि इस तरह के सांस्कृतिक संकट को पैदा करने के पीछे शासक वर्ग की एक खास मंसा होती है । चूँकि भाषा एक ऐसी चीज है जिससे बंध कर एक प्रदेश के लोग एकत्व का अनुभव करते हैं, इसीसे उनकी एकता को तोड़ने के लिए और उन पर उपनिवेश कायम करने के लिए आक्रान्ता सबसे पहले उस प्रदेश की भाषा को ही आक्रान्त करना शुरू करता है । दुर्भाग्य है कि अंगिका आजादी के बाद से इस षड़यंत्र का सबसे ज्यादा शिकार हो गई है ।

निर्विवाद रूप से, अंगिका भाषा के दुर्बल होते जाने के कई कारणों में एक प्रबल कारण यह भी है कि इस प्रदेश के लोगों का रोजी-रोटी के चक्कर में लगातार नगरों-महानगरां में पलायन, जहाँ जाकर वे एक लम्बी अवधि के बाद अपनी मातृभाषा को ही भूल जाते हैं, और घर लौटते हैं तो एक नई भाषा के साथ । यह नई भाषा गाँव के अन्य लोगों को भी प्रभावित करते हैं । नतीजा हो रहा है कि अंगिका का रूप धीरे-धीरे गडमड होता जा रहा है, जैसा कि अन्य भाषाओं का भी । शायद अंगिका की यह स्थिति नहीं होती, अगर आजादी के बाद से ही अंग प्रदेश की आर्थिक ओर राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ करने की प्रति सामाजिक दृष्टि यहाँ के सांसदों, मंत्रियों और विधायकों में होती । जो नहीं है । अंगिका को संरक्षण देने के नाम पर यहाँ के राजनीतिज्ञों ने अंगिका भाषियों को कितना छला है, इसका इतिहास सबके सामने खुला है । यह नहीं होता तो क्या देश की छोटी-छोटी बोलियाँ भारतीय संविधान की अष्टम अनुसूचि में प्रवेश पा जातीं और अंगिका, जो कभी एक देश, एक महाजनपद की भाषा रही है, अब अंगप्रदेश की, जिसके आदिकवि सरहपाद को खड़ी बोली हिन्दी अपना आदि कवि कह कर गौरवान्वित होती है, वह अंगिका इस स्थिति में होती ?

ध्यातव्य हो कि अंगिका कुछ अन्य भाषाओं के साथ उस सूची में शामिल है, जिन्हें संविधान की अष्टम सूची में प्रवेश मिलना है, लेकिन जिस तरह अंगिका को उसके विश्वविद्यालय से बाहर ढकेलने की कोशिश हो रही है, वैसा ही प्रयास केन्द्र सरकार की ओर से भी । केन्द्रीय गृह राज्यमंत्री ओमप्रकाश जायसवाल का कहना है कि अब और लोकभाषाओं को अनुसूची में शामिल करना मुश्किल है, फिर, नहीं शामिल करने का तर्क भी देते हैं । केन्द्रीय गृह राज्यमंत्री को मालूम ही नहीं

कि अंगिका कितने बड़े भूगोल की भाषा है, और जिसका निर्माण यहाँ की इसी भाषा के आधार पर अंग्रेजों ने कभी १७७३ में किया था और आजादी के बाद भारत की सरकार ने भी, जब देश में भाषावार प्रान्त की मांग प्रबल थी ।

मैं उस राजनेता का नाम नहीं लेना चाहूँगा, जिन्होंने मुझसे कहा था कि अंगिका को पाठ्यक्रम में या संविधान की अनुसूची में शामिल करके क्या होगा, हिन्दी देश की अभी राष्ट्रभाषा भी नहीं बन पाई है, हिन्दी के लिए काम करिए । मुझे हँसी आ गई थी ।

पता नहीं, ये राजनीतिज्ञ जब यह भी नहीं समझते कि लोकतंत्र लोक को जीवित रहने और रखने की चिन्ता से जुड़ा हुआ तंत्र है, तब वे देश के लोकतंत्र को कैसे चला पायेंगे । और क्या हिन्दी को जीवन तभी मिल सकता है, जब लोकभाषाओं की बलि दी जाए ? राजनेताओं की ऐसी ही हठधर्मिता के कारण हिन्दी दक्षिण भारत में नहीं फैल पा रही है और लोकभाषाएँ उत्तर में । क्या हमारे राजनेता और शिक्षाविद बताएँगे कि दक्षिण भारत के लोग हिन्दी से क्यों भयभीत होते हैं ।

आज अंगिका का मूल हिन्दी को बताकर अंगिका को भी हिन्दी से भयभीत किया जा रहे है । सभी जानते हैं कि खड़ी बोली हिन्दी के जन्म की कथा हजार वर्षों से अधिक की नहीं है और अंगिका उम्र में हिन्दी की पूर्वज है । अंगप्रदेश ऋग्वेद काल के पूर्व का प्रदेश है, और तब भी इसकी भाषा यही अंगिका कुछ भिन्न रूप में रही होगी । एक विद्वान ने, जानकारी में अभाव में, लिखा है कि अंगिका को अपनी कोई लिपि नहीं है, उन्हें बौद्धग्रंथ ललितविस्तर की लिपि शाखा देखना चाहिए कि अंगिका लिपि वहाँ किस तरह चौथे स्थान पर है ।

सिर्फ लिपि का ही सवाल उठा कर नहीं, बल्कि अनेक अनैतिहासिक झूठों का सहारा लेकर अंगिका को आजादी के बाद से जिस तरह प्रभुत्वशाली वर्ग द्वारा आक्रान्त किया गया है, भाषा के इतिहास में बर्बरता का ऐसा अध्याय ज्यादा नहीं मिलेगा । अंगिका जो कभी अंगदेश की भाषा रही है, उसे आजादी के बाद बोली सिद्ध करने का षड़यंत्र बहुत सुनियोजित ढंग से हुआ, जो अब तक जारी है । इस बात को न तो देश का लोकतंत्र समझ पा रहा है, न अंगप्रदेश के अंगिकाभाषी । कौन बोली है, कौन भाषा—यह तो इतिहास के तटस्थ अध्ययन से अब स्वतः स्पष्ट है । ऐसा नहीं होता है कि कोई संविधान की अष्टम अनुसूची में चला जाए तो वह भाषा बन जाती है और कोई बाहर है तो वह बोली है ।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि देश की किसी भी भाषा की अवहेलना, उस प्रदेश की ज्ञान सम्पदा की अवहेलना है, जिसको उस प्रदेश ने हजारों-लाखों वर्षों के अनुभवों से अर्जित-संचित किया है । हाल ही में मैं २० मार्च २००७ का

हिन्दुस्तान पढ़ रहा था, जिसमें एक समाचार प्रकाशित था ''भाषा, बोलियों में छुपी है जैवविविधता ।'' इसमें भाषावैज्ञानिक डेविड हैरिसन का वक्तव्य प्रकाशित है कि स्थानीय पर्यावरण की रक्षा स्थानीय लोगों के ज्ञान से ही संभव है, और उनका यह ज्ञान उनकी भाषा में निहित होता है । कभी अंगिका भाषा विकास पर बोलते हुए आचार्य शिवबालक राय ने कहा था कि अंगिका भाषा को बनाए रखना है, तो हमें गाँव के सबसे बूढ़े व्यक्ति के पास जाना होगा, जिसके पास आज भी अंगिका के शब्द और मुहावरे सुरक्षित हैं ।

आज तो हम ऐसा कर भी सकते हैं, लेकिन कल हमारे पास हमारी कोई पीढ़ी नहीं आयेगी, क्योंकि हमारे पास उन्हें देने के लिए पूर्वजों द्वारा थमाया गया कुछ भी ज्ञान हमारे पास नहीं होगा । क्योंकि तब हम आक्रान्ता भाषाओं से अभिभूत होते-होते अपनी मातृभाषा ही भूल चुके होंगे । इसे भुलाया नहीं जा सकता कि हमारा ज्ञान सिर्फ हमारी देशज भाषा से ही अभिव्यक्त हो सकता है । 'धौनों पिछाड़ी देबौ' जैसे मुहावरे और 'खरयैन्नी' उकुस-पुकुस, भांगटों जैसे शब्दों के अर्थ को अंग्रेजी या हिन्दी में कभी व्यक्त नहीं कर सकते । मुझे मालूम है कि भाषाविद निर्मल कुमार वर्मा ने साहिबगंज के कुछ आदिवासियों की मदद से ही सिन्धु लिपियों को पढ़ने में सफलता पाई थी, और फिर वर्मा ने सिन्धु सभ्यता की समाप्ति का नया इतिहास भी उसी नये ज्ञान के आधार पर लिखा । अगर हम भाषाओं को हिंस्र पशुओं की तरह मारने का अभ्यस्त बन गये, तो एक दिन पृथ्वी को बचाना ही कठिन हो जायेगा । भाषाएँ तो नहीं ही बचेंगी ।

हमें यह किसी तरह नहीं भूलना चाहिए कि अपनी-अपनी भाषाओं के प्रति लोगों में कितनी आसक्ति होती है, जिसके कारण वे धर्म और जाति की भी अवहेलना कर देते हैं । पाकिस्तान से बंग्लादेश का अलग होना भाषा पर ही मुख्य रूप से आधारित था । अंगिका को बोली कहकर इसे दबाने की कोशिश में कहीं ऐसा न हो कि भाषाई सौहार्द्र और सहिष्णुता ही विचलित हो जाए । भाषा और बोली तो राजनीतिक दाँव-पेंच का खेल है । अपनी पुस्तक 'लिंग्विस्टिक इम्पीरियलिज्म' में रावर्ट फिसिपसन ने ठीक ही फ्रांसिसी भाषाशास्त्री कात्वेल के कथन को याद करते लिखा है और जिसका उल्लेख रमेश उपाध्याय ने भी किया है कि, बोली और कुछ नहीं, केवल एक हरायी गई भाषा है और भाषा एक बोली है जो राजनीतिक रूप से जीत गई है ।

('हिन्दुस्तान' भागलपुर, १३ सितम्बर २००७)

केन्द्र को कौन बताए
कि अंगिका व्युत्पन्न भाषा नहीं है

पिछले दिनों केन्द्रीय गृह राज्य मंत्री श्रीप्रकाश जायसवाल ने संविधान की अष्टम सूची में अंगिका, छत्तीसगढ़ी, गढ़वाली, नागपुरी, मगही, लेप्चा, कुमाऊँनी, पहाड़ी और पाली को शामिल करने में दिक्कतें बताते हुए सीताकांत महापात्र समिति की रपट का हवाला दिया और कहा कि समिति की रपट में यह कहा गया है कि—संविधान की अष्टम सूची के लिए हर राज्य से एक भाषा होनी चाहिए और वह आबादी के बड़े हिस्से का प्रतिनिधित्व करती हो । भाषा राज्य की स्वतंत्र भाषा होनी चाहिए, व्युत्पन्न भाषा या बोली नहीं । भाषा का उच्चस्तरीय या सुपरिभाषित साहित्य होना चाहिए ।

महापात्र समिति की रिपोर्ट गलत नहीं है लेकिन रिपोर्ट की सिफारिश के अनुसार ही क्या संविधान की अष्टम सूची में भाषाओं को स्थान मिला है, वे महापात्र रिपोर्ट की शर्त्तों को पूरा करती हैं याकि उन्होंने सूची में शामिल होने के बाद ही अपनी उच्चस्तरीय और सुपरिभाषित होने का परिचय नहीं दिया । इस संबंध में विशेष बातें नहीं कर यहाँ सिर्फ अंगिका भाषा के संबंध में, कुछ उल्लेख करना चाहूँगा ।

अंगिका आजादी के बाद के अंगप्रदेश के निर्धारित भूगोल की भाषा है । और भाषा के आधार पर निर्धारित यह भूगोल केन्द्रीय सरकार की पणिक्कर समिति की रिपोर्ट के आधार पर है । इस संबंध में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से प्रकाशित—ग्रंथ 'अंगिका संस्कार गीत' के सम्पादक बैजनाथ पाण्डेय और राधावल्लभ शर्मा के वक्तव्य को उद्धृत करना आवश्यक होगा, ''बिहार प्रान्त की पृथक कल्पना के बाद उसे तीन से चार प्रमंडलों में बांटा गया । अंग क्षेत्र भागलपुर प्रमंडल के अन्तर्गत पड़ा और इस प्रमंडल का मुख्यालय भागलपुर में हुआ । इस प्रमंडल को भागलपुर, मुंगेर, पूर्णिया और संताल परगना-इन चार जिलों में बांटा गया । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भाषा के आधार पर प्रान्त निर्माण के आन्दोलन जब शुरू हुए, तब भारत सरकार ने श्री पणिक्कर की अध्यक्षता में एक समिति संगठित की, जिसकी सिफारिश पर पूर्णिया जिले का कुछ पूर्वी भाग बंगाल में मिला दिया गया । सन् १९५६ ई. में ही भागलपुर जिले के गंगा से उत्तर स्थित क्षेत्र के प्रायः सर्वांश को एक अलग जिले, सहरसा के अन्दर डाल दिया गया । अब भागलपुर प्रमंडल में पांच जिले हो गए ।''

आज पुराना भागलपुर कोशी, पूर्णिया, मुंगेर, संताल परगना के प्रमंडलों में बंट गया है, लेकिन इसकी भाषा नहीं बंटी है और अंगिका भाषा से ही अंग का भूगोल अब भी अखंडित है । इतना ही नहीं कि अंगिका, मुंगेर, कोशी, पूर्णिया, भागलपुर, संताल परगना के इक्कीस-बाइस जिलों तक सीमित है, यह बंगाल के मालदा पुरुलिया और वर्त्तमान में झारखण्ड के हजारीबाग जिले तक प्रसारित होती चली गई है । इस संबंध में प्रसिद्ध इतिहासग्रंथ 'प्राङ-मौर्य बिहार' में दर्ज अंग के भूगोल को रखना चाहूँगा । श्री त्रिवेद के अनुसार, ''कलिंग भी अंग राज्य में सम्मिलित था और तंत्र भी अंग की सीमा एक शिव-मंदिर से दूसरे-शिव-मंदिर तक बतलाता है । यह एक महाजनपद था । अंग में मानभूमि वीरभूम, मुर्शिदाबाद और संताल परगना—ये सभी इलाके सम्मिलित थे''

यह भूगोल चाहे जिस भी कारण से है, राजनीति या धार्मिक कारणों से इतना तो सही है कि अंगिका भाषा का प्रसार राजनीतिक या धार्मिक कारणों से वहाँ तक रहा ही होगा ।

कथासरित सागर की उक्ति है कि अंग का भूगोल समुद्र के किनारे तक था और इतिहास यह भी बताता है कि कर्ण का अन्तिम किला बंगाल के झालाबाड़ी क्षेत्र में ही था । जब अंग का बंगाल तक विस्तार था तब अंगिका भाषा कोस कोस पर पानी बदले, चार कोस पर वाणी के न्याय से किस तरह से नहीं परिवर्त्ति रूप में बंगाल तक पहुँची होगी ?

इस निबंध में प्राकृत भाषाओं के प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने जो बंगला भाषा की उत्पत्ति के संबंध में अपने प्रसिद्ध भाषा ग्रंथ 'ऑरिजन एण्ड डवलपमेन्ट ऑफ दि बंगाली लैंग्वेज' में जो लिखा है, वह बहुत विवेचनीय है । ''डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने उक्त ग्रंथ में बंगला भाषा के उद्भव में चर्यापदों की भाषा का प्रमुख प्रभाव माना है ('ऑरिजन एण्ड डवलपमेण्ट ऑफ दि बंगाली लैंग्वेज', पार्ट-१, पृ. ११७) इसी पुस्तक के प्रथम भाग के पृ. ६२ में डॉ. चटर्जी यह लिखते हैं कि आर्यभाषा सबसे पहले केन्द्रीय और पश्चिम बंगाल में 'अंग' से प्रविष्ट हुई है । यह बताने की जरूरत नहीं है कि सिद्धों के चर्यापदों का निर्माण प्राचीन विक्रमशील विश्वविद्यालय के भूखंड (अंग) में हुआ, जिसकी भाषा प्राचीन अंगिका है । इस संबंध में डॉ. डोमन साहु समीर का विस्तृत लेख 'सिद्ध साहित्य, अंग जनपद और अंगिका भाषा' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग भाग-८१, अंक-४ आश्विन माघ शीर्ष, ९१८ शक) द्रष्टव्य है ।

इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि अंगिका कोई सीमित क्षेत्र की भाषा नहीं है और न कोई व्युत्पन्न भाषा या बोली । अंगिका तो उस महाजनपद की भाषा

है जो कभी अंगदेश के रूप में रहा और जिससे कई भाषाओं और बोलियों का जन्म हुआ है । 'आंगी' के कई अंकों में यह कई प्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि अंगिका का ही दूसरा नाम अर्द्धमागधी पड़ा, जो अंग पर मगध के शासन कायम होने के बाद हुआ । और इस अर्द्धमागधी के संबंध में भगवान महावीर का कथन है कि यह सबसे प्राचीन भाषा है ।

जहाँ तक अंगिका भाषा में उच्चस्तरीय और सुपरिभाषित साहित्य का प्रश्न है, इस संबंध में केन्द्रीय सरकार को ज्ञात होना चाहिए कि भाषा के लिए पाश्चात्य विद्वानों ने जिन शर्त्तों का निर्धारण किया है, वहाँ भी अंगिका अग्रणी श्रेणी मे हैं, यह नहीं कि यह महाजनपदों में सबसे प्रथम पंक्ति में है, भाषाविदों के अनुसार बोली भाषा तब बनती है जब उसमें १. अलिखित साहित्य हो, २. लिखित साहित्य हो, ३. उसका व्याकरण हो, ४. उसकी लिपि हो, ५. उसकी उपभाषाएँ हो और ६. उसका शब्दकोष भी हो ।

विस्तार भाव से बचने के लिए यहाँ इतना ही संकेत करना पर्याप्त होगा कि अंगिका के अलिखित साहित्य यानी लोकसाहित्य का भण्डार उतना ही विस्तृत है जितना कि इसका इतिहास । कभी माउन्ट गोमरी ने अपने ग्रंथ इम्पेरियल गजेटियर ऑफ इंडिया में अंगप्रदेश के लिए कुछ ऐसा लिखा था कि अंग में आप जहाँ कहीं खड़े होते हैं, वहाँ एक इतिहास होता है, आप वहाँ जिस कंकड़ी को उठाते हैं, वह इतिहास की कंकड़ी होती है, और आप उसे जहाँ फेंकते हैं, वहाँ एक इतिहास होता है । ऐसा ही इतना विस्तृत है अंगिका का लोकसाहित्य ।

कुछ विद्वान यह भ्रम प्रसारित करते फिरते हैं कि अंगिका को अपनी लिपि नहीं है । ऐसे विद्वानों को न तो इतिहास का पता है, न वर्तमान का । प्रसिद्ध बौद्धग्रंथ 'ललित विस्तर' की लिपिशाखा में जिन चौसठ लिपियों का उल्लेख है, उनमें अंगिका चौथे स्थान पर है । तथाकथित विद्वानों को लिपिशाखा बार-बार पढ़नी चाहिए, तब वह यह भी समझ पायेंगे कि अंग की अपनी एक प्रमुख लिपि के साथ कई लिपियाँ थीं, जिसमें एक शंख लिपि भी थी । आज भी अंगिका की लिपि जीवित है, देवनागरी का प्रयोग बस बढ़ा है । और जब अंगिका ने देवनागरी लिपि को स्वीकार कर लिया है, तब करेन्सी नोट पर इसके उल्लेख में दिक्कत कहाँ से आयेगी और संघ लोक सेवा आयोग की इस आपत्ति को भी कि अब और क्षेत्रीय भाषा को शामिल करने से परीक्षा संचालन में दिक्कत होगी, स्वीकार नहीं किया जा सकता । इससे अंगिका भाषा के करोड़ों भाषियों के साथ अन्याय होगा ।

अंगिका में साहित्य का सृजन तो तब ही प्रारम्भ हो गया था, जब आज की हिन्दी का जन्म भी नहीं हुआ था । हिन्दी साहित्य का इतिहास तो अंगिका भाषा

के उन्हीं सिद्ध कवियों के साहित्य पर खड़ा है, जिसके बिना हिन्दी अपनी प्राचीनता ही खो दे । हिन्दी के आदिकवि सरहपाद अंगिका भाषा के ही आदिकवि हैं । सिद्धों की काव्यभाषा (प्राचीन अंगिका) पर प्रसिद्ध भाषाविद डॉ. डोमन साहु समीर ने एक विस्तृत लेख भी लिखा है ।

यही नहीं कि डॉ. समीर ने ही अंगिका भाषा और इसके व्याकरण पर काम किया है । हिन्दी के प्रख्यात भाषाविदों डॉ. कामेश्वर शर्मा, डॉ. माहेश्वरी सिंह महेश, डॉ. शुकदेव सिंह, पं. गदाधर अम्बष्ठ, डॉ. परमानन्द पाण्डेय, डॉ. उदयनारायण तिवारी, डॉ. तेजनारायण कुशवाहा, हरिशंकर श्रीवास्तव शलभ, डॉ. दिनेश्वर प्रसाद, डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी, श्री उमेश ने इस भाषा का ग्रंथ तैयार करने के अतिरिक्त इस पर कई महत्वपूर्ण लेख भी लिखे हैं । डॉ. उदयनारायण तिवारी ने पूर्ववर्त्ती ग्रियर्सन के निष्कर्ष को अमान्य करते हुए डॉ. परमानन्द पाण्डेय की अंगिका व्याकरण पुस्तक पर लिखा है कि अंगिका भागलपुर, मुंगेर, कोशी, पूर्णिया और पूर्णिया प्रमंडलों की भाषा है । आरम्भिक भूलें तो किसी से भी हो सकती हैं, भूलें सुधारी भी जाती हैं, डॉ. जार्ज ग्रियर्सन ने भी सुधारी थी और अंगिका को छेका-छिकी कहते हुए, इसका अलग व्याकरण बनाया था अंगिका व्याकरण-भाषाग्रंथ की संख्या ही कई हैं, अकेले डॉ. परमानन्द पाण्डेय के ही कई ग्रंथ । यह देख कर आश्चर्य होता है कि बिहार और केन्द्र की सरकारों की, आजादी के बाद से लगातार राजनीतिक उपेक्षाओं के बाद भी अंगिका भाषा में इतने-इतने आधुनिक साहित्य का प्रकाशन कैसे संभव कर दिया अंगिका साहित्यकारों ने ।

बिहार सरकार ने भले न किया हो, हैदराबाद की हिन्दी अकादमी ने, अंगिका हिन्दी शब्दकोष, अंगिका व्याकरण, अंगिका साहित्य केरॉ इतिहास, अंगिका भाषा में ही प्रकाशित कर जिस इतिहास को रचा है, वह अभूतपूर्व है । अंगिका साहित्य पं. वैद्यनाथ चतुर्वेदी और वाणिमुक्ता प्रतिभा मिश्र की इस आत्मीयता को कभी नहीं भूल सकता । अगर हम आधुनिक अंगिका के उपन्यास, नाटक, आलोचना के साहित्य को छोड़ भी दें, तो इस भाषा के तीन प्रबन्ध त्रयी, 'उध्वरिता', 'सवर्णा', 'गेना' ही अंगिका साहित्य के मूल्यों को निर्धारित करने के लिए काफी हैं ।

जिस अंग प्रदेश ने अंगिका भाषा में लिखे सिद्ध साहित्य से तिब्बत तक को ज्ञान दान दिया था, उसकी अस्मिता और संरक्षण की अनिवार्यता को किसी तरह टाल रखना मुश्किल ही होगा । उस अंगप्रदेश की भाषा को जिस प्रदेश की स्थापना मध्य ऋग्वेद काल में ही हो चुकी थी । इतिहासकार राधाकृष्ण चौधरी के 'हिस्ट्री ऑफ बिहार' से भी यह ज्ञात होता है, और 'संस्कृति के चार अध्याय' के लेखक रामधारी

सिंह दिनकर ने जिस 'अंग' के बारे में लिखा है कि हिन्द-चीन के किनारे-किनारे चम्पा राज्य की स्थापना द्वितीय शती में चम्पा के निवासियों के द्वारा हुई । सभी द्वीपों का नाम अंगद्वीप था । और जिसके चक्रवर्ती राजा अंग ने कभी सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत कर अश्वमेघ यज्ञ किया था (अंग समन्तं सर्वतः पृथ्वी जयन् परियायाश्वेन च मध्येनेजे इति, ऐतरेय ब्राह्मण ३९/८/२१) और ऐतरेय ब्राह्मण की इस पंक्ति को उद्धृत करने के पीछे चार करोड़ से अधिक अंगिका भाषियों को अपने अतीत के गौरव को स्मरण कराना भी है, जिसे भूलना अंगिका संस्कृति के लिए ही नहीं, अंगिका भाषा के लिए भी विषवत सिद्ध होगा । अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के उपन्यासकार रसूल हमजातोव ने लिखा है कि, ''अगर तुम अतीत पर पिस्तौल से गोली चलाओगे, तो भविष्य तुम पर तोप से गोले बरसाएगा ।''

('अंगिकालोक', दरभंगा, अक्टूबर-दिसम्बर २००७)

'साँवरी' के साज में भाषान्तरकार की भव्य भूमिका

'साँवरी' अंगिका भाषा के बहुचर्चित विप्रलम्भ काव्य 'कागा की संदेश उचारै' का हिन्दी भाषान्तर है । दो दशक से भी पूर्व लिखा गया यह अंगिका काव्य जब मैंने पढ़ा था, तब अभिभूत हुए बिना नहीं रह सका था । इसके कवि अनिरुद्ध प्रसाद विमल ने विप्रलंभ की सभी दशाओं और अनुभावों, संचारी भावों को आधुनिक मनोविज्ञान की जिस जमीन पर प्रस्तुत किया है, वह किसी भी भारतीय भाषा के ६ ारोहर साहित्य के बीच अपनी पहचान बनाने में सक्षम है, यह मैंने तब भी अनुभव किया था और इसकी जरूरत महसूस भी की थी कि इसका अनुवाद न केवल हिन्दी में, बल्कि अंग्रेजी में भी होना जरूरी है ।

जैसा कि ऊपर कहा गया कि 'साँवरी' विप्रलम्भ शृंगार का काव्य है, इसकी गिनती पारम्परिक विरह-काव्य की सीमा में भी की जा सकती है, लेकिन यह सीमा को तोड़ता काव्य भी है । 'साँवरी' ऐसी परकिया के प्रेमोवेग का काव्य है जो सामाजिक रुकावटों के कारण आहत होती रहती है । और यही रुकावट आखिर में मानसिक असंतुलन को जन्म देती है । कुसमायोगी व्यवहारों से ग्रसित होती है नायिका, और उस स्थिति में भारतीय आचार्यों द्वारा गिनाई गई विप्रलम्भ की दसो दशाएं और फ्रायड, युंग द्वारा निर्देशित अस्वाभाविक प्रेम व्यवहार सब एक जगह इकट्ठे हो गये हैं ।

'साँवरी' में परम्परा के अनुसार षड्ऋतु वर्णत तो है, लेकिन यहाँ कोई कथा नहीं । काव्य की सम्पूर्ण ताकत 'साँवरी' की मनोदशा में गूंजित है । यह बहुत अच्छा हुआ कि अंगिका और हिन्दी के कवि धनंजय मिश्र ने 'कागा की संदेश उचारै' का अनुवाद 'साँवरी' नाम से हिन्दी में कर दिया है ।

अनुवाद या भाषान्तर के क्रम में जो सबसे परेशानी होती है, वह है—दो भिन्न भाषाओं के शब्दों की ध्वनियों की पूर्ण पहचान का अभाव । चूँकि 'साँवरी' के भाषान्तरकार स्वयं हिन्दी और अंगिका के सिद्ध कवि हैं और इन दोनों भाषाओं पर इनकी पकड़ भी मजबूत है, इसी से 'साँवरी' ('कागा की संदेश उचारै' की भूमिका में एक नाम 'साँवरी' भी है) का भाषान्तर भी प्रभावपूर्ण बन सका है । वैसे इसके पीछे और भी कई कारण है, जिनमें एक यह भी है हिन्दी में लोकभाषाओं के शब्द अनन्त हैं, अंगिका क्षेत्र की हिन्दी में अंगिका शब्दों मुहावरों का योग भी वैसा ही है । फिर भाषान्तरकार धनंजय मिश्र ने भाषान्तर के क्रम में इसका भी ख्याल रखा

है कि जो भाव अंगिका के शब्दों या शब्दबन्ध में ही संभव है, उन्होंने उन्हें वैसा ही स्वीकारा है ।

भाषान्तरकार धनंजय ने एक और काम किया है 'साँवरी' में कि अंगिका की वाक्य संरचना को हिन्दी की वाक्य संरचना में बदलने के क्रम में इसका पूर्ण ख्याल रखा है कि काव्य के भाषान्तर की कड़ुआहट का बोध नहीं हो । कहना चाहूँगा कि अंगिका की प्रकृति में खड़ी बोली की प्रकृति को रोम-रोम मिला कर छाया छवि तैयार की है । यही कारण है कि 'कागा की संदेश उचारै' अपने मूल में जिस अदम्य प्रभाव को स्थापित करता है, उससे कम 'साँवरी' काव्य का भाषान्तर नहीं । यही इस बात का सबूत है कि भाषान्तरकार धनंजय मिश्र ने काव्य की देह के साथ ही उसकी आत्मा को भी गहरे तौर पर समझा है ।

भाषान्तर कृति की मुद्रण स्वच्छता और आवरण सज्जा दोनों ही पाठकों को बांधकर रख लेने वाला है ।

('हिन्दुस्तान' भागलपुर, २६ नवम्बर २००७)

'कोलाहल' का संगीत

'कोलाहल' नन्दलाल यादव 'सारस्वत' की काव्यकृति है, छब्बीस हिन्दी कविताओं का संग्रह, कविताएँ जो कवि की आरम्भिक कविताएँ हैं । इसीसे इसमें कोलाहल से इनकार नहीं किया जा सकता । हालांकि कवि 'कोलाहल' से जिस व्यंजना को उभारना चाहता है, उसमें कवि 'सारस्वत' सफल हैं, एकदम सफल । लेकिन मैं तो उस कोलाहल की बात कर रहा हूँ जो किसी भी नये कवि की कविताओं से बहुत सावधानता के बाद भी हटता नहीं । और यह कोलाहल शिल्प और शैली के स्तर पर भी हो सकता है, या फिर भाव के स्तर पर भी । साहित्य में ऐसे भी कवि मिल जायेंगे, जिनकी कविताओं में न केवल भावों का कोलाहल है, बल्कि शिल्प का भी, फिर भी वे साहित्य में सम्माननीय हैं । तब ऐसे में नन्दलाल यादव 'सारस्वत' की साहित्य-साधना की उपेक्षा कैसे संभव है ! ढाँचे की कला ही तो कला का चरम नहीं होता, भाव का मूल्य तो होता ही है और 'कोलाहल' का मूल्य ढाँचे के कारण नहीं, मूल्यों के कारण मूल्य है । ढाँचे में कोलाहल अवश्य है, लेकिन इसमें आए मूल्य के संगीत से कौन नहीं अभिभूत होगा ?

वैसे कवि नन्दलाल यादव 'सारस्वत' ने जिस व्यापक अर्थ में 'कोलाहल' शब्द का प्रयोग किया है, उससे कवि के यथार्थबोध की व्यापकता का ज्ञान तो अवश्य ही होता है । घर के आँगन से लेकर देश तक के महलों में व्याप्त विसंगतियों को कवि ने कविताओं में पकड़ने की कोशिश की है । इस पकड़ से न तो फैशन पर टिकी आधुनिकता ही छूटी है और न पर्यावरण का संकट । और यही बात 'कोलाहल' को समकालीनता का संगीत प्रदान करती है ।

देश में चाहे राजनीति का कोलाहल हो, या नेतृत्व का कोलाहल, या फिर भ्रष्ट शिक्षा या आर्थिक नीतियों का ही कोलाहल—इन तमाम कोलाहलों के बीच कवि 'सारस्वत' अनवरत उस संगीत को पकड़ने में प्रयासरत मिलते हैं, जिससे व्यक्ति का जीवन, समाज और देश का जीवन, देश ही क्यों पूरी दुनिया में शांति का सौन्दर्य संभव है । 'कोलाहल' की एक कविता है—दर्शन । इस एक कविता से ही हम कवि के काव्यसृजन के महाभाव को समझ सकते हैं । और इसी महाभाव का रसतत्व पूरे संग्रह में भिन्न-भिन्न स्वर में फैला हुआ है ।

'कोलाहल' में जिस कोलाहल की अभिव्यक्ति हुई है, उसे व्यक्त करने के लिए जिस भाषा की जरूरत होती है, वह कवि नन्दलाल यादव के पास है । इस कवि ने व्यंग्य को अपनी भाषा का औजार बनाया है, जो व्यंग्य ललित भी है, मध

यम भी और अधिकतर स्थलों पर रोबीले स्वर का आक्रमक भी । 'कोयल भली या कौवी' का व्यंग्य ललित ही है ।

वैसे व्यंग्य उपदेश से परहेज कर के ही चलता है, लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि कल्याण की भावना व्यंग्य में नहीं होती । होती है, लेकिन इसका रास्ता जरा दूसरा होता है—व्यंग्य डाँट-फटकार में ज्यादा विश्वास करता है । कवि नन्दलाल यादव 'सारस्वत' के व्यंग्य में डाँट-फटकार भी है और उपदेश भी । यह बीच का रास्ता कवि के स्वभाव के अनुकूल है ।

जहाँ कवि यह लिखता है,

नये वर्ष के स्वागत में, लेकर आया, मैं भी एक संदेश ।
प्रभु करे कि पापों से, अत्याचारों से, भर जाये सब देश ।।

युगों से कहता आया, हमारा सृष्टिकर्त्ता है
जब तक न हो पाप चरम पर, उसका अंत नहीं होता है ।
जब होती है, धर्म की हानि, और पाप बढ़ जाता है,
तभी लेते हैं अवतार प्रभु, और नाश पाप का होता है ।।

(संदेश)

इन पंक्तियों में दबी हुई अनास्था और पीड़ित मन की व्याकुलता की परतों को देखा समझा जा सकता है ।

यह अनास्था और व्याकुलता सिर्फ कवि की ही नहीं है, पूरे जन समाज की यह व्याकुलता है । अगर जनता हिजड़े को मेयर चुन लेती है, तो कारण क्या है ? कारण तो है,

छोड़ दिया लेना जनता का केयर
खाने लगे सभी घोटाले का शेयर

००

बिक चुकी राजनीति गुंडों के हाथ
हार-जीत तय करती है जात-पात
या फिर चुनाव में खर्चे की औकात
और करते भी हैं मूर्ख पते की बात ।

कवि ने सिर्फ राजनीति के कोलाहल का ही दृश्य-विधान किया हो, ऐसा नहीं है । भ्रष्ट राजनीति और आर्थिक नीति से प्रभावित समाज की उस विकृत मानसिकता को भी उजागर किया है, जो एक ओर तो स्त्रियों को भोगवादी व्यवस्था से जोड़ती है, और दूसरी ओर आर्थिक तथा मानसिक यंत्रणाओं की शिकार होने के

लिए बाध्य भी । 'अंगप्रर्दशन', 'खरीददारी' और 'नारी की पुकार' 'बेटी' आदि कविताएँ इस प्रसंग में विशेष विवेच्य हैं ।

'कोलाहल' निस्संदेह कवि नन्दलाल यादव 'सारस्वत' की आरम्भिक कविताओं की प्रथम काव्यकृति है, लेकिन इस कृति के बीज में संभावनाओं का जो विशाल वृक्ष प्रत्यक्ष है, उसका अनुमान सहज ही संभव है । कवि 'सारस्वत' कबीर का सोटा लिए हुए ही अपनी कविताओं में नहीं चले हैं, नानक, दादू का हृदय भी इनकी कविताओं में है, जो कहीं अन्तरधारा की तरह है, और कहीं मुख्य धारा के रूप में, जहाँ कवि ऐसी पंक्तियों के साथ हमारे सामने खड़ा होता है,

अगर नहीं, विवेक पास में
मानवता नहीं है अगर साथ में
हम हैं काक और श्वान समान ।
गुण अपना कर देव समान
मानव ! बन जा तुम महान ।

दोहे के दो चरण : रामधारी और धनञ्जय

दोहे के दो चरण, या तीर पर तने दो वाण, अंधेरे में खुली दो आँखें, या फिर हवन-कुंड में जलती तेजपुंज दो समिधाएँ—कुछ ऐसे ही चित्र मेरे सामने खड़े होते हैं, जब कभी मैंने अंगप्रदेश के दो कवि रामधारी सिंह 'काव्यतीर्थ' और धनञ्जय मिश्र के बारे में सोचा है । दोनों ही कवि दोहा को समर्पित कवि हैं । वैसे अंगप्रदेश में आधुनिक दोहाकारों की कमी नहीं । महाकवि सुमन सूरो, सियाराम प्रहरी, आभा पूर्वे, दिनेश तपन, अंजनी कुमार शर्मा, हीरा प्रसाद हरेन्द्र, सत्यानन्द ऐसे रचनाकार हैं, जिन्होंने अंगिका और हिन्दी में दोहे के इतने श्रेष्ठ उदाहरण रखे हैं कि इन्हें अंगप्रदेश के दोहों के सप्तऋषि ही कहें तो गलत न होगा । लेकिन बात यहाँ रामधारी सिंह काव्यतीर्थ और धनञ्जय मिश्र की है । वह भी अंगिका भाषा में रचे इनके दोहों की ।

आलोचक सरदार मुजाबर ने दोहे से संबंधित एक प्रश्नावली ही भेजी है, कि मैं इन प्रश्नों के उत्तर दूँ । निस्संदेह इनमें कई प्रश्न सार्थक बहस की मांग करते हैं, जिनमें ये भी हैं कि आखिर दोहे की परिभाषा क्या हो सकती है ? दोहा का उद्‌भव कब हुआ ? क्या दोहा एक स्वतंत्र विधा है ? दोहा और साहित्य का क्या संबंध है ? दोहे का समाज से क्या संबंध है ? प्राचीन और आधुनिक दोहे में अन्तर क्या है ?

वैसे दोहे का समाज से संबंध के अन्तर्गत ही कई प्रश्नों के उत्तर भी निकल आते हैं, जैसे भक्तिकाल के दोहों ने समाज को क्या दिया ? आज के दोहों का योगदान क्या है और दोहे खूब लिखे जा रहे हैं, तो क्यों ? आदि सवालों के उत्तर ।

सबसे पहले तो दोहे की संरचना पर ही कहूँगा, जो उसकी परिभाषा भी तय करती है, और कि जो रामधारी सिंह 'काव्यतीर्थ' और धनञ्जय मिश्र के अंगिका दोहों से भी जड़ा सवाल है । दोहा यानी जिसे छंद के दो चरणों के रूप में दो हाथ हों । 'थ' के घिस जाने से संभव है, 'दो हाथ' 'दोहा' हो गया हो । लेकिन दो चरण तो कई-कई छंदों के हैं, उन्हें दोहा नहीं कहेंगे । दोहा वह है जिसके प्रत्येक चरण में दो चतुष्कल, एक पंचकल (पंचकल जो गुरु, लघु, गुरु के क्रम में हो) फिर दो चतुष्कल और आखिर में एक त्रिकल (जिसमें मात्रा का क्रम गुरु, लघु हो), यही है दोहा । चतुष्कल ऽऽ रूप में भी हो सकते हैं और ऽ।। रूप में भी, ।ऽ। रूप में भी, ।।ऽ रूप में भी । लेकिन मात्राओं के इन रूपों को देख, जो गुरु-लघु की संख्या पर फिर दोहे में भी भेद करते हैं, उनकी भेद बुद्धि को क्या कहिए । मैंने एक जगह

पढ़ा कि लघु-गुरु के भेद से दोहा भी चंडाल होता है, तो डर गया । समाज से साहित्य तक चण्डाल की खोज अभी मरी नहीं । मैं कहूँ, किसी भी क्रम में मात्राएं हों, बस उनका अष्टक, पंचक, अष्टक, त्रिकल सुरक्षित रहे, दोहा पूर्ण है । पंचकल ऽ।ऽ रूप में भी हो सकता है और ।।।।। रूप में भी ।

बस अल्पविराम के लिए प्रत्येक चरण में दो चतुष्कल और एक पंचकल के बाद छोटा-सा ठहराव बनाया गया है, जिसे आचार्य 'यति' कहते हैं ।

लेकिन अपने इस स्वरूप को प्राप्त करने के पहले दोहा कई रूपों से अवश्य गुजरा होगा, साहित्य में जिन बड़ो दूहो, तुंबेरी दूहो, अनमेल दूहो, मध्यमेल दूहो, दोही, दुहरा का उल्लेख मिलता है, वे वर्तमान में प्रचलित दोहे के आदि रूप हैं, या लोक में लीक से हटे दोहे के लोकरूप; जो इसलिए दोहे हैं कि इनमें दो चरण हैं । साहित्य में इस संरचना के मुक्तक को निबद्ध मुक्तक कहा गया है ।

प्रायः रामधारी सिंह 'काव्यतीर्थ' और धनञ्जय मिश्र के दोहों पर यह सवाल उठाया जाता रहा है कि इनके दोहे अष्टक, पंचक, अष्टक, त्रिकल और यति विधान की शर्तें बहुत बार पूरा नहीं करते । यह सही भी है । लेकिन इस प्रकार के दोष तो कबीर के दोहों में भी मिल जायेंगे । इसके पीछे का कारण यही हो सकता है कि संत छंद की संरचना से अधिक भाव के पीछे भागनेवाले होते हैं ।

साहित्य में दोहे के निबद्ध मुक्तक का प्रथम प्रयोग अंग महाजनपद के सिद्ध कवि सरहपाद ने किया, जिनकी काव्यभाषा आदिकालीन अंगिका है, जिसे भाषाशास्त्रियों ने अवहट्‌ट कहा है । इसलिए यह आश्चर्य नहीं कि आज अंगप्रदेश में दोहे का छन्द क्यों इतना लोकप्रिय है, क्योंकि अंगप्रदेश की आधुनिक हिन्दी कविता-धारा भी सिद्धों से ही अधिकतर प्रेरणा ग्रहण करती धारा है ।

यह इस प्रदेश के बारे में ही क्यों, अंगिका अवहट्‌ट के सिद्ध कवियों से प्रेरणा ग्रहण कर, बाद में सभी भक्तिकालीन कवियों ने सिद्धों की काव्य-शैली पर ही दोहे और पद की रचना की; चाहे वह कबीर हो, सूर हो, तुलसी हो, नानक हो, मीरा हो, या कोई भी भक्तिकालीन कवि ।

सिद्धों ने जिस दोहे में अपनी बातें कहीं, वह छन्द-रूप में इतना लोकप्रिय बन गया कि बाद का कोई भी कवि दोहे के प्रभाव को इन्कार नहीं कर सका । कम शब्दों में अपने अनुभव के रसायन को रख देने की कला सबको जँची और अब छन्द के इतने लघु रूप से जीवन के बड़े अनुभव को स्मृति में रख लेना किसी के लिए संभव हो गया था । इसीसे इसकी लोकप्रियता भक्तिकाल में चरम पर पहुँच गई । जब भक्त-साधक कवि जीवन के मंत्र को दो पंक्तियों की ताबीज पाठक की स्मृति में आसानी से बांध रहे थे, और जब रीतिवादी कवियों ने यह देखा कि संतों के

दोहेवाले वचन भक्तों पर इतने गहरे असर डाल रहे हैं, तो उन्होंने भी उन्हीं दोहों की वंशी में शृंगार का सुर भरा और आश्रयदाताओं के कानों में गुंजाने लगे कि आश्रयदाता झूमते हुए 'वाह-वाह' कह उठे । बस दो ही पंक्तियाँ तो कहनी थी कवियों को, और यश अपार था—और इस तरह दोहा साहित्य का अभिन्न हिस्सा बनाता चला गया ।

आधुनिक दोहा आज भी अपने उस मूल स्वभाव से हट नहीं पाया है, फर्क है तो बस इतना कि पहले के दोहों में आलोचना की वैसी तीखी झांस नहीं थी, सिर्फ कबीर के दोहों को छोड़ कर, लेकिन आज के आधुनिक दोहों का मुख्य स्वर कबीर के आलोचनावाले दोहे का स्वर बन गया है ।

रामधारी सिंह काव्यतीर्थ और धनञ्जय मिश्र के दोहों में दोनों परम्पराओं का योग है । यहाँ नीति का अमृत है, तो आलोचना का गरल भी,

ऐलों छौ तोंय जगत में, करि लें दू ठो काम ।
नाम भजन व पेट भरन, सच्चाई बलधाम ।।
मुसीबत के समय में कछुवा अंग समेट ।
साधक कें भी चाहियों, चित्तवृत्ति लपेट ।।
अकड़ै वाला व्यक्ति के, बिगड़े बनलों काम ।
नम्रता सें काम बनें, कहियो नै बदनाम ।।
भाग्य परिश्रम संगति सें, सभै चीज नर पाय ।
विद्या ज्ञान आरू शिक्षा मिलै, नम्रता कहलाय ।।
आय आतंकवाद सें जन-जन दहशत देश ।
सदभावना भावों सें मिटें आतंक क्लेश ।।
चलै में जे गिरी जाय, होकरों नै छै दोष ।
जों कोय बैठलों रहें, होकरों सिरें कोश ।।
भूख गुस्सा अज्ञान छै जहर बुद्ध के तीन ।
इन्साफ, एहसान, इल्म लीयें तीनों छीन ।।
सब शहरों के गंदगी, फैक्टरी-अवशेष ।
नाला कचरा जाय मिलै, कहि नै सकै सुरेश ।।

—रामधारी सिंह 'काव्यतीर्थ'

दुर्गा पूजा भक्ति के, वर पावै रों काल ।
सब मन के संगीत ई, हँसी खुशी रों ताल ।।
देवी जे सिंहवाहिनी खल के करै संहार ।
शरत ऋतु के प्राण जे, सुख केरों संसार ।।

मतछिमतों छै आदमी, इखनी काटै पेंड़ ।
गिरतै इक दिन मूं भरी, लागतै जखनी ऐंड़ ।।
जेकरों बढ़थैं ही रहै, अजगर रं परिवार ।
निगली जैतै एक दिन, ओकरौ ई व्यवहार ।।
मुम्बई सें आसाम तक, गरजै छै आतंक ।
गिरै गाछ रं आदमी, लोटें लागलै भंक ।।
तड़का तड़कै जोन रं मन कें भले डराय ।
नद्दी, नाला, वृक्ष कें मजकि खूब अघाय ।।
घर भर के सुख नींद लै हेनों दुष्ट दहेज ।
जीवन भर जलथैं रहै, दुल्हिन केरों सेज ।।
गांधी बाबा छै अमर भारत केरों शीश ।
हुनका सबलोगें कहै, कलियुग केरों ईश ।।

—धनञ्जय मिश्र

रामधारी और धनञ्जय के काव्य साहित्य में दोहों की ही प्रमुखता है । आधुनिक समय में दोहा छंद तो इतना लोकप्रिय हो उठा है कि कुछ साहित्यकार इसे विधा ही मानने लगे हैं । कभी अत्यधिक उत्साही लघु कथाकारों ने लघुकथा को भी विधा ही मान ली थी । क्या कीजिएगा । पुराने समय में गंभीर चिन्तन के बाद ही कोई कुछ मानते थे, अब बिना सोचे मान लेते हैं ।

दोहा मात्रिक मुक्तक का श्रेष्ठ उदाहरण है—अपने आप में बिल्कुल स्वतंत्र, एक पूरी बात को अपने में समेटे । हम दो, या तीन, या चार, या फिर पाँच, या इससे भी अधिक दोहों को जोड़ कर एक बात कह सकते हैं, या फिर सौ या सात सौ दोहों को काव्य-रूप में रख सकते हैं, लेकिन क्या छन्द के आधार पर काव्य-भेद भी हुआ है, छन्द तो शिल्प से संबंध रखता है । अधिक-से-अधिक दोहों में लिखे काव्य को हम दोहा छंद का काव्य ही कहेंगे । अगर विधा का अर्थ छंद से कोई लेते हैं तो कोई हर्ज नहीं । लेकिन विधा तो रचना-पद्धति है, जो सीधे काव्य के आकार-प्रकार और शैली से संबंध रखती है, हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए ।

दोहे को विधा मान लेते हैं फिर दोहे का सिरमौर कहलवाने का अष्टयाम । लेकिन इस सबसे क्या होगा ! समाज तो सिर्फ उसे ही स्वीकार करता है, जो उसके बहुत बड़े हिस्से के हितों के साथ होता है, और बड़ी ईमानदारी से बात करता है । फैसन के साथ बहने वालों के साथ समाज की आत्मा नहीं बहती । इसी से रीतिकाल के दोहाकारों को वह सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी, जो कबीर, रहीम, तुलसी को प्राप्त है । आप चाहे जितनी बार बिहारी के दोहों के लिए यह दुहरा ले,

'घाव करे गंभीर' वे समाज की जिह्वा पर कभी नहीं चढ़े । चढ़े तो बस कबीर, तुलसी, रहीम । इसीसे दोहाकारों में श्रेष्ठ की बातें होंगी तो पहले इन्हीं तीनों को लोग उठायेंगे । डॉ. मुजावर के एक प्रश्न के उत्तर में मैं कहना चाहूँगा कि भक्तिकाल के किसी भी कवि ने अपने दोहे के छोटे से संसार में समाज के सामाजिक हितों के जितने बड़े संसार को खड़ा किया, उसकी तुलना में रीतिवादी कहाँ पर ठहरते हैं ? पहले के पाँव धरती पर हैं, दूसरे के पाँव झूले पर । निस्सन्देह आधुनिक दोहाकार भी प्रकारान्तर से वही कार्य कर रहे हैं, जो भक्तिकाल के दोहाकारों ने किया था—बल्कि आज के दोहाकारों ने उसे अत्यधिक विस्तार दिया है, जिसके कारण ही समाज के सारे परिवेश, चाहे वे राजनीतिक हों, आर्थिक हों, धार्मिक हों, नंगधड़ंग होकर खड़े हो गये हैं । इस दृष्टि से आधुनिक दोहों के महत्व को किसी तरह अस्वीकार करना भूल होगी । और यह काम पूरे देश में सभी भाषाओं के दोहाकार एक समान कर रहे हैं । इस तरह से एक नई तरह की भावात्मक एकता राष्ट्र के स्तर पर खड़ी हुई है ।

और जहाँ तक आधुनिक समय में गजल के बराबर दोहों की लोकप्रियता बढ़ने का प्रश्न है, उसके पीछे एक कारण यह भी है कि गजल के शेर से दोहा कहना ज्यादा आसान है, और इसका प्रभाव शेर से किसी भी तरह कम नहीं होता । और सबसे बड़ी बात कि इसका एक निश्चित छंद है, एक बार सध जाए, भावों को साधना भी आसान हो जाता है । आनेवाले समय में संभव है दोहा भारतीय भाषा की सर्वाधिक लोकप्रिय छंद बन जाय, और यह होगा दोहा छंद की विशेषताओं के कारण ।

मुझे बहुत अच्छा लगता है कि रामधारी सिंह काव्यतीर्थ और धनञ्जय मिश्र ने अपने दोहा को उसी परम्परा से ग्रहण किया है, जो कबीर या तुलसी या रहीम की है । देखिए,

सीप समुद्र में ही रहै, जल ओकरों नै लै ।
जल पीयै छै स्वाति के, छवि सागर कें दै ।।
मानव तोरों गुन बड़ों, माँसों के नै काम ।
हड्डी के नै जेवरा, बाजा बजै नै चाम ।।
अइलों छौं तोंय जगत में, भजि लें हरि के नाम ।
धन-जन-बल ई रतन सब, संग न जाय छदाम ।।
प्रदूषण छेलों सब ठांय, ध्वनि जल वायु आकाश ।
गंगा यमुना पंचनद, बिरथा सभै प्रयास ।।

—रामधारी सिंह 'काव्यतीर्थ'

बरखा नै होतै जरौ, गरमी पड़तै खूब ।
काटी ले पर्वत बिरिछ, इखनी तोरा हूब ।।
दीन-हीन परिवार के, आखिर खुल्लै पोल ।
सुरसा रं परिवार छै, बजतै फुट्टा ढोल ?
ई आतंकी वास्तें, दया-मोह नै दीन ।
ई जीवन पर मौत रं, बरछी रं आसीन ।।
ई दहेज हेनों असुर, सबकें करै तबाह ।
भले लगें वरदान ई, लेकिन छेकै दाह ।।

—धनञ्जय मिश्र

रामधारी और धनञ्जय दोनों ने ही अपने समय को बंद आँखों से नहीं देखा है, इसीसे इनके दोहों में समय की विद्रुपताएँ भी साकार हैं । खुली आँखों का रचनाकार अपने समय को चित्रित किए बिना रह ही नहीं सकता । जैसा समाज, जैसे लोग, जैसी उनकी मानसिकता, वैसा ही उस समय का साहित्य । फिर इसमें रचनाकार की अपनी चित्तवृत्ति भी काम करती ही है, वह चाहे इससे जितना परहेज करे, वह किसी-न-किसी तरह अभिव्यक्त हो ही जाती है । सिद्धों के दोहों में साधना, संतों के दोहों में भक्ति, रीति कवियों में शृंगार और आधुनिक कवियों में आर्थिक-राजनीतिक यथार्थ जो व्यंग्य की भूमि पर व्यक्त हैं, इसी कारण । रचनाकार की अपनी भी चित्तवृति रचना में हवा-पानी की तरह घुली रहती है । इसीकारण रामधारी सिंह काव्यतीर्थ और धनञ्जय मिश्र के अंगिका दोहों में जहाँ एक ओर आधुनिकता का खुलासा है, वहीं भक्तिकाल के दोहों का भी रसगंध । दोनों ही भक्त हृदय के आधुनिक दोहाकार हैं, इसीसे दोनों के दोहों में भक्तियुग और आधुनिक युग बाँहें उठा कर खड़े हो गये हैं, रामधारी सिंह काव्यतीर्थ के अंगिका दोहे तो इनकी कुछ कृतियों में प्रकाशित भी हैं, लेकिन धनञ्जय मिश्र के अधिकांश अंगिका दोहे अभी अप्रकाशित ही हैं । जब इन दोनों रचनाकारों के अंगिका दोहों का सम्पूर्ण साहित्य समक्ष आ जायेगा, तब इनकी उपलब्धियों का आकाश भी सामने आयेगा ।